शिक्षा की सुनहरी ईंटें :

विवेकानन्द, टैगोर, श्रीअरविन्द, एवं अज्ञेय

शंकर शरण

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005

प्रथम संस्करण, 2024

कॉपीराइट © भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

सर्वाधिकार सुरक्षित।
प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में
या माध्यम से पुस्तक का कोई भी भाग पुनः प्रस्तुत या
प्रसारित नहीं किया जा सकता है।

ISBN: 978-81-969454-0-4

मूल्य : ₹ 550/-

सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान,
राष्ट्रपति निवास, शिमला-171005 द्वारा प्रकाशित
वेबसाइट : www.iias.ac.in

मुद्रक : एक्सल प्रिंट्स यूनिवर्स, नई दिल्ली
टाइपसेट : ऊषा कश्यप, नई दिल्ली

सभी प्रकार के दुख का कारण अज्ञान है।

(स्वामी विवेकानन्द)

हमारे अपने परिवार में, पड़ोस में, गाँव में मनुष्य के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सम्मान की माँग - प्रत्येक वर्ग के लिए न्यायसंगत व्यवहार समान अधिकार का सिद्धांत अब भी हमारे चित्त में सम्पूर्ण रूप से प्रवेश नहीं कर पाया है। वैज्ञानिक बुद्धि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इसलिए यदि हम सोच-विचार कर देखें तो इस युग को यूरोप के साथ हमारी सहयोगिता का युग कहेंगे। वस्तुत: जहाँ यूरोप के साथ हमारे चित्त का, हमारी शिक्षा का, असहयोग है वहीं हमारा पराभव है।

(रवीन्द्रनाथ टैगोर)

किसी भी महान देश का पतन हमेशा तीन गुणों के क्षरण से आरंभ होता है - विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता; तुलना और विभेद करने की क्षमता; तथा अभिव्यक्ति की क्षमता।

(श्रीअरविन्द)

समाज के जीवन में ऐसा भी समय आता है जब कि पूरा का पूरा समाज ही संदेह की हवा में बह जाता है — एक अनास्था की हवा बहती है कि कुछ भी अर्थ रखने वाला प्रतीत नहीं होता। कभी कभी लगता है कि हम लोग जिस समाज में जी रहे हैं, शायद ऐसी ही कोई हवा — या कि कहें वबा — बह रही है, बीमारी फैल रही है; कोई मूल्य नहीं हैं बल्कि एक आपाधापी है जिस के सिवा दुनिया में कोई मूल्य नहीं हैं। सब संदिग्ध हो गया और पशु *जीवन* ही एक मात्र प्रमाणिक जीवन है, *सर्वाइवल* ही अंतिम और चरम मूल्य है; जीवन से बड़ा कुछ नहीं है, उस के लिए जो करना है वही करो; जैसे बच सको, जैसे जी सको, जैसे आराम पा सको, वही एक मात्र उद्देश्य है।

(स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय')

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत अध्ययन का अवसर तथा अध्ययन की पूरी अवधि में हर प्रकार की सहायता एवं सहयोग प्रदान करने के लिए लेखक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता है।

विशेषकर लेखक इस संस्थान की शासी समिति के पूर्व अध्यक्ष प्रो. कपिल कपूर, पूर्व उपाध्यक्ष तथा पूर्व कार्यकारी निदेशक प्रो. चमन लाल गुप्ता, अध्यक्षा प्रो. शशि प्रभा कुमार, कार्यकारी निदेशक प्रो. नागेश्वर राव, पूर्व कार्यकारी सचिव व पुस्तकालयाध्यक्ष श्री प्रेमचन्द, तथा सचिव श्री मेहर चन्द नेगी का आभारी है। जिन्होंने कृपापूर्वक इस अध्ययन का सुअवसर प्रदान किया, तथा अध्ययन के लिए अनंतर सुविधाएं भी प्रदान की।

लेखक संस्थान के सभी अन्य अधिकारियों तथा कर्मचारियों का भी अत्यंत कृतज्ञ है, जिन्होंने मार्च 2022 से मार्च 2024 के बीच समय-समय पर हर प्रकार की तकनीकी, व्यवहारिक, आकस्मिक आवश्यकताओं की सहर्ष पूर्ति की। जिन से लेखक को अपना अधिक से अधिक समय अध्ययन, मनन और लेखन में लगा सकने में अबाध सुविधा रही।

आशा है, आप सभी की कृपा और सहायता से संपन्न यह अध्ययन ***''शिक्षा की सुनहरी ईंटें : स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीअरविन्द, एवं स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' की सीख''*** सुधी पाठकों एवं शिक्षा क्षेत्र के लोगों को उपयोगी प्रतीत होगी।

7 मार्च 2024

(शंकर शरण)
नेशनल फेलो, 2022-24
भा.उ.अ.सं., शिमला

कथ्यक्रम सूची

1. **प्राक्कथन** **1–18**

एक पृष्ठभूमि 1, शिक्षा का अर्थ 6, आत्मिक और संसारी 8, यह अध्ययन 17

2. **विवेकानन्द** **19–40**

शिक्षा के तत्व 20, आत्मविश्वास और चरित्र का प्रशिक्षण 22, व्यक्तित्व का विकास 25, शिक्षक की पात्रता 25, धर्म और सत्य 26, दुर्बलता और सबलता 26, भारत की विशेषता 28, भारत का धर्म 29, संसार एवं मानवजाति 30, पात्रता का महत्व 31, सामाजिक उन्नति का मार्ग 31, भारत में जाति–भेद विवाद 33, नित्य–स्मरणीय विचार 34, व्यावहारिक शिक्षाएं 37

3. रवीन्द्रनाथ टैगोर **41–101**

वर्तमान स्थिति 41, बच्चों के प्रति अन्याय 46, भाषा का महत्व 48, रचनात्मक साहित्य का स्थान 50, शिक्षा का आदर्श व्यवहारिक स्वरूप 54, हमारी शिक्षा में यूरोपीय देन 55, शिक्षा संबंधी कर्तव्य 57, उच्च–शिक्षा के विश्वविद्यालय 58, हिन्दू विश्वविद्यालय, मुस्लिम विश्वविद्यालय 60 , जाति–भेद और शिक्षा 63, हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध 66, व्यक्तित्व निर्माण 70, समुचित शिक्षण–पद्धति 73, प्रार्थना और ध्यान 74 , ध्यान का एक पाठ 76, धर्म की शिक्षा 83, शारीरिक जीवन की शिक्षा 84, लय और शिक्षा 87, 'एक कवि का विद्यालय' 89, राष्ट्रवाद का दुष्प्रभाव 94, भारत में राष्ट्रवाद 96

4. श्रीअरविन्द **102–118**

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के परिणाम 102 , राष्ट्रीय शिक्षा के तत्व 103 , सभी इन्द्रियों का सही उपयोग 105, शारीरिक शिक्षा 107, विवेक–बुद्धि की शिक्षा 108, कल्पना–शक्ति और तर्क–क्षमता 109 , बौद्धिक प्रशिक्षण के तत्व 110, चारित्रिक गुणों की शिक्षा 112, शिक्षा की सही पद्धति 114, शिक्षा में सुधार के लिए 115, नैतिक और धर्म शिक्षा 117

5. स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' **119–146**

अच्छे जीवन का अर्थ 119, व्यवहारिक शिक्षा का अर्थ 122, साक्षर और शिक्षित 123, भारतीयता और वैश्विकता 123, प्रासंगिकता और मूल्य–बोध 124, शिक्षा की बुनियाद — भाषा 126, इतिहास–बोध और सांस्कृतिक गिरावट 130, इतिहास शिक्षा और सांप्रदायिकता 133, सांप्रदायिकता और नैतिक शिक्षा 136, राजनीति शिक्षा पर सावधानी 137, उच्च शिक्षा की विडंबनाएं 139, व्यवहारिकता बनाम आदर्शवादिता 142, उच्च–शिक्षकों के लिए विचारणीय बातें 144

6. उपसंहार **147 – 163**

ध्यातव्य अन्य विचार–बिन्दु 147, समाकलन 154

परिशिष्ट **164–194**

प्लेटो 164, हेनरी वड्सवर्थ लाँगफेलो 166, जॉन रस्किन 168, बंकिम चन्द्र 173, जॉर्ज ऑरवेल 174, रवीन्द्रनाथ टैगोर 180, रॉबर्ट हचिन्स 185, स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' 188, नीरद सी. चौधरी 192

स्त्रोत–संदर्भ **195–197**

1.
प्राक्कथन

पढ़िए: मीन मेख निकालने या गलत साबित करने के लिए नहीं, न ही आँख-मूँद कर विश्वास कर लेने के लिए, न ही गप्प और बातचीत के विषय पाने के लिए, अपितु तौल कर विचार करने के लिए।

– फ्रांसिस बेकन, 'ऑन स्टडीज'

एक पृष्ठभूमि

आज के युग में किसी देश के लिए औपचारिक शिक्षा तंत्र की भूमिका कितनी मर्मभूत है, इस का संकेत करते हुए चीनी-अमेरिकी लेखिका शी वान फ्लीट ने एक उदाहरण दिया है। चीन में 1949 ई. में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सत्ता छीन लिए के बाद चीनी नेता च्यांग काई शेक ने पूरे घटनाक्रम पर विचार करते हुए लिखा, ''हमारी विफलता का सब से बड़ा कारण चीन के स्कूलों की शिक्षा में नैतिक और चारित्रिक विकास पर ध्यान न देना था। यह उस विडंबना का कारण बना कि देश ने अपने युवाओं को खो दिया।'' कहने का अर्थ, शी वान के अनुसार, कि चीन की सरकार देश की सैनिक और आर्थिक मजबूती बनाने पर केंद्रित रही, जबकि चीनी कम्युनिस्टों ने छात्रों को प्रभावित करके देश के शहरी लोगों को अपने पक्ष में आंदोलित किया। अंततः वही लोग अपने देश में अभूतपूर्व उथल-पुथल, क्रांति के नाम पर भयावह नरसंहार, और सामाजिक तबाही के कारण बने।

दूसरा उदाहरण, उस से भी पहले रूस का है। महान रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन ने रूसी इतिहास पर अपने बहुखंडी वृहत ग्रंथ *लाल चक्र* (द रेड ह्वील) के 'नवंबर 1916', 'मार्च 1917', जैसे शीर्षकों से लिखे भारी-भरकम अनेक खंडों में उस जमाने में रूस की राजधानी के एक-एक दिन का वास्तविक विवरण सौ-

सौ पृष्ठों में लिखा है। जिस से तब वहाँ हर तबके, और वर्ग के जीवन की एक प्रमाणिक तस्वीर मिलती है। उस में भी साफ झलकता है कि जहाँ रूस के शासक प्रथम विश्व-युद्ध की जटिलताओं तथा सुचारू आर्थिक-व्यापारिक व्यवस्था रखने में व्यस्त थे, वहाँ रूसी नगरों में शिक्षित वर्ग लगभग संपूर्णत: रेडिकल मतवादों और उन के प्रभाव में तरह-तरह की कल्पनाओं का शिकार हो चुका था। फलत: वह अनजाने अपने ही समाज को तहस-नहस करने की ओर बढ़ रहा था। निस्संदेह, उन शिक्षितों, बौद्धिकों के अधीर विमर्श में 'बुनियादी परिवर्तन', 'क्रांति', 'प्रगति', आदि की सुंदर लगने वाली कल्पनाएं थीं। किन्तु व्यवहार में उन का वही हश्र हुआ, जो बाद में चीन में भी हुआ। अनेकानेक अन्य देशों में भी हुआ। वस्तुत: अभी तीन वर्ष पहले अमेरिकी और यूरोपीय विश्वविद्यालयों में भी उसी की झलक मिली, जब छात्रों और अध्यापकों के एक प्रभावशाली वर्ग ने अपने राजनैतिक वैचारिक आग्रहों को थोपने का आंदोलन करते हुए देश के कानून, विधान और सांस्कृतिक परंपराओं को बेबस कर दिया।

यह संकेत है कि किसी देश में शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, चर्या, आदि संपूर्ण गतिविधियों को सैनिक या आर्थिक व्यवस्था से भी *अधिक* गंभीरता से लेना चाहिए। उसे किसी रुटीन गतिविधि, या काम के विभाग के रूप में लेना, और कम महत्त्वपूर्ण समझने के दुष्परिणाम किसी भी रूप में, कभी भी, और अनिश्चितकाल तक अनिष्टकर हो सकते हैं।

वह सबक भारत के लिए भी है। केवल उक्त कारणों से ही नहीं, अपितु सामाजिक और नागरिक स्वास्थ्य के लिए भी। जैसा इस अध्ययन के चारों मुख्य अध्यायों और परिशिष्ट सामग्री तक में देखा जा सकेगा, हमारे स्कूल कॉलेजों विश्वविद्यालयों की शिक्षा क्रमश: मूल अर्थ खोती गई है। यह पिछले सौ सालों से भी कुछ अधिक समय से लगातार हो रहा है। हमारे विविध महापुरुषों ने इसे देखा समझा, और गहरी चिंता तथा कुछ बेबसी के साथ भी इस प्रक्रिया को नोट किया है। यद्यपि यह सही है कि साइंस, टेकनॉलोजी, वाणिज्य, व्यवसाय, बैंकिंग जैसे क्षेत्रों में भारतीय परिदृश्य विकासमान है। इन क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति में शिक्षा के क्षेत्र ने भी योगदान दिया है। किन्तु देश की कुल जनसंख्या, तमाम शैक्षिक संस्थाओं की संख्या, उन में छात्रों, अध्यापकों की संख्या, उन सब की आपेक्षिक गुणवत्ता, शैक्षिक सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाओं, उच्च-अध्ययन, विशिष्ट अध्ययन के पत्रों, जर्नलों की संख्या एवं गुणवत्ता, आदि के विस्तृत, आनुपातिक

विवरणों, और विविध तुलनाओं से उस में भी भारी विसंगतियाँ पाई जा सकती हैं। किन्तु वह प्रस्तुत अध्ययन के दायरे में नहीं हैं।

यह अध्ययन शिक्षा के मूल अर्थ, तथा उस से संबंधित चिन्ताओं से प्रेरित है। इस में लेखक के अपने चार दशकों का विविध शैक्षिक अनुभव भी निहित है, जिस से उस ने संबंधित अंशों का महत्त्व मानते हुए एकत्र करने का प्रयास किया। वे अनुभव स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों तक छात्र के रूप में, तथा अध्यापक और अवलोकनकर्ता के रूप में भी हुए हैं। जिन अनुभवों ने उन सभी चिन्ताओं की पुष्टि की, जिसे हमारे देश के अनेक विशिष्ट मनीषियों ने नोट किया था। जिन मनीषियों को यह लेखक लंबे समय से पढ़ता रहा है, उन के महत्त्वपूर्ण शैक्षिक अवलोकनों को संग्रहीत कर किसी तारतम्य में प्रस्तुत करना ही इस अध्ययन का लक्ष्य था। उन चारों मनीषियों का चयन किसी विशेष शैक्षिक महत्ता के कारण नहीं किया गया है। अपितु संयोगात लंबे समय से उन का पाठक होने से इस लेखक ने शिक्षा संबंधी उन के अनेक विचारों को स्थाई महत्त्व का पाया। फलत: इस अध्ययन का सुयोग मिलने पर उन्हें एकत्रित करने का निश्चय किया।

अत: यह प्रस्तुति किसी अकादमिक उद्देश्य से, अथवा नीति-निर्माताओं के ध्यानाकर्षण के लिए नहीं की जा रही है। वस्तुत: यह स्वान्त:-सुखाय आकलन है। शिक्षा संबंधी स्वयं अपने अवलोकन को परखने, दुरुस्त करने, अपनी शंकाओं का समाधान करने, तथा सभी बिन्दुओं को वास्तविकता के समक्ष परखने की इच्छा से यह आकलन किया गया है। इस से किसी सुधी पाठक, या विचारशील शिक्षा-कर्मी, नीतिकार, आदि को भी लाभ हो सकता है, यह आशा इस लेखक को है।

यद्यपि, निस्संदेह, यह आकलन-संकलन शिक्षकों, विद्यार्थियों के माता-पिताओं, इस विषय में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों, शिक्षा संस्थानों के संचालकों, तथा शिक्षा क्षेत्र के नीतिकारों के लिए भी उपयोगी हो सकता है। आत्म-शिक्षण, लोक-शिक्षण, और औपचारिक शिक्षा तंत्र में अपेक्षित सुधार के लिए भी। विशेषकर इसलिए, क्योंकि इस में जिन चार महापुरुषों के विचारों का आकलन है, उन के कार्यक्षेत्र मूलत: भिन्न-भिन्न थे।

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) वेदान्त के विश्व-प्रचारक थे; रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) एक संवेदनशील कवि, लेखक, कलाकार, विचारक,

विद्यालय संस्थापक और शिक्षक भी थे; श्रीअरविन्द (1872-1950) पहले शिक्षक, फिर प्रखर राष्ट्रीय नेता, फिर महान चिंतक-योगी रहे; तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1911-1987) भी पहले क्रांतिकारी, फिर सैनिक होने के साथ-साथ मुख्यत: एक कवि और मौलिक विचारक थे। इन चारों मनीषियों का जीवन काल 1861 ई. से 1987 ई. के बीच रहा। इस प्रकार, उन चारो के अवलोकनों में लगभग सौ वर्षों का भारतीय परिदृश्य, हमारा समाज और उस की वास्तविक गति, आ जाता है। जिस में उत्तरार्ध, लगभग आधा काल स्वतंत्र भारत का ही है, जिस दौरान भारत की शिक्षा, उस का उद्देश्य, सामग्री, व्यवस्था और नीतियाँ स्वयं भारतीय लोगों ने निर्धारित और संचालित की हैं।

अतएव, भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्र में रहते हुए उक्त चारो महापुरुषों ने मानवता, समाज और बच्चों-युवाओं के प्रति अपने दायित्व के प्रति सचेत होने के कारण समय-समय पर वह बातें कहीं और लिखीं, जिन्हें वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझते थे। न केवल तात्कालिक, अपितु स्थाई महत्त्व की बातें। स्कूली शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयों तक की शिक्षा, तथा भाषा, साहित्य, इतिहास एवं राजनीति संबंधी प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा पर भी उन के विचारों को इस में संकलित किया गया है। वे बातें उन्नीसवीं सदी के अंत से लेकर बीसवीं सदी के आठवें दशक के बीच के अवलोकन हैं। तब से भी कई दशक और बीत चुके हैं। इस प्रकार, यह अध्ययन इस का भी अवसर भी देता है कि उन बातों की परख आज की वास्तविकता के आलोक में कर सकें। तदनुरूप, यदि चाहें तो, जहाँ जो संभव हो, अपने तौर पर या सामाजिक, सांस्थानिक तौर पर अपेक्षित कार्य, और सुधार कर सकें।

इस अध्ययन में उन चारों महापुरुषों की बातें लगभग पूरी तरह उन के ही शब्दों में, चार अलग-अलग अध्याय में रखी गई हैं। इस से चारो मुख्य अध्यायों तथा परिशिष्ट के सभी अंशों के कथ्य की शैली भी भिन्न-भिन्न है। यह इस अध्ययन की संपूर्ण सामग्री को पढ़ने में रुचिकर भी बनाता है। क्योंकि यह किसी द्वितीयक लेखक की अपनी टिप्पणियों, और असंख्य बार दुहराई गई तरह-तरह की बातों, सुझावों, आदि से मुक्त, पूरी तरह सारगर्भित और हर मनीषी की सब से मूल्यवान बातों का आकलन-संकलन है। ऐसा आकलन जो हमारी आज की शैक्षिक, सांस्कृतिक स्थिति और सामाजिक दुविधाओं, चिन्ताओं को

सीधे छूता है। उन्हें समझने में सहायक है, तथा किसी समाधान की ओर बढ़ने में राह दिखाने की दृष्टि से भी मूल्यवान है।

इस लेखक ने हरेक अध्याय के अंतर्गत संबंधित मनीषी के शैक्षिक महत्त्व की बातों को चुन कर केवल कुछ उप-शीर्षक देकर, एक साथ एकत्रित, संयोजित भर किया है। ताकि किसी बिन्दु पर उन के विभिन्न मंतव्यों को एक साथ पढ़कर उन का आशय स्पष्टता से हृदयंगम किया जा सके। साथ ही, अपने विवेक से उन का मूल्यांकन भी किया जा सके।

संपूर्ण प्रस्तुति में ऐतिहासिक विधि का उपयोग किया गया है। अर्थात्, ऐतिहासिक काल-क्रम में चारों महापुरुषों की बातों को रखा गया है। जिस से लगभग गत दो सदियों में भारत में शिक्षा संबंधी स्थिति, चिन्ताओं, और आवश्यकताओं को उन के माध्यम से काल-क्रम में देखा-समझा जा सके। साथ ही, जिन तथ्यों तथा विचार-बिन्दुओं पर उन्होंने बल दिया है, उन्हें वर्तमान स्थिति के अपने आकलन से मिला कर देखा जा सके। परिशिष्ट की सामग्री भी मनीषियों के कालक्रम में ही है। न कि उन के कथ्य के महत्त्व अथवा विषय के तारतम्य में।

इस तरह, इस अध्ययन का एक उद्देश्य उन मनीषियों के विचारों के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से क्रमशः अभी तक की उन स्थितियों तथा चिन्ताओं का जायजा लेना है जो वर्तमान समय में बच्चों और युवाओं की शिक्षा से स्थाई रूप से जुड़ी हुई हैं। वैचारिक, सैद्धांतिक, दार्शनिक, और सामान्य मानवीय मूल्यों की दृष्टि से ऐतिहासिक विधि की सदैव उपयोगिता है। विशेषकर मानवीय स्थितियों के उत्थान-पतन, और उन्नति-अवनति की वास्तविक समझ के लिए यह विधि अपरिहार्य है। परिशिष्ट में सम्मिलित रॉबर्ट हचिन्स के अवलोकन से भी इस का संकेत मिलता है।

इस अध्ययन के अंत में, परिशिष्ट के रूप में कुछ विदेशी मनीषियों की बातें भी उसी तरह चुनी हुई आकलित हैं। जिन बातों में अधिकांश वही चिन्ताएं, और उन्हीं बिन्दुओं पर अवलोकन हैं, जो हमारे चारो मनीषियों के आकलन में भी किसी न किसी रूप में मिलती हैं। इस से अमेरिका और यूरोप के कुछ मनीषियों की संबंधित शैक्षिक धारणाओं और विचार-बिन्दुओं से तुलना करके भी अपने देश की स्थिति को समझने में सहायता मिल सकती है। तदनरूप हमारे मनीषियों के अवलोकनों की महत्ता और प्रासंगिकता भी निर्धारित की जा सकती है।

शिक्षा का अर्थ

दुनिया की किसी भी सभ्यता में शिक्षा को मुख्यत: रोजगार, भौतिक उत्पादन आदि से जोड़ कर नहीं देखा गया है। उदाहरण के लिए हम दो भारतीय तथा दो यूरोपीय महापुरुषों के विचार लेते हैं:

''वह शिक्षा जो जनसमुदाय को जीवन-संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, जो उन की चारित्र्य-शक्ति का विकास नहीं करती, जो उन में भूत-दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं?'' (स्वामी विवेकानन्द)।

''हमारे देश के लिए वही शिक्षा सच्ची शिक्षा है जिस के द्वारा देश का अपना मन सत्य संचय करने में और उसे अपनी शक्ति द्वारा प्रकाशित करने में समर्थ बने। पुनरावृत्ति करने की शिक्षा मन की शिक्षा नहीं है। पुनरावृत्ति तो यंत्र के द्वारा भी हो सकती है।'' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

''मेरे लिए इस का कोई महत्त्व नहीं कि मेरा विद्यार्थी सैन्य सेवा में जाएगा, या चर्च, या कानून के क्षेत्र में। इस से पहले कि उस के माता-पिता उस के लिए कार्य-क्षेत्र तय करें, प्रकृति ने उसे पहले मनुष्य होने के लिए कहा है। अत: जब वह मुझ से शिक्षा प्राप्त करके जाएगा तो वह न मैजिस्ट्रेट होगा, न सिपाही, न पादरी; वह एक मनुष्य होगा।'' (रूसो)

''स्वार्थी उद्देश्यों से, या बिना सोचे बनाई गई बाध्यतामूलक, नकलची और यांत्रिक शिक्षा ने वास्तव में हमें अनेक क्षेत्रों में पीछे ढकेल दिया है। विभिन्न सामाजिक बुराइयाँ व्यापक अज्ञानता द्वारा हिंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।'' (लेव टॉल्सटॉय)

देश या विदेश के अन्य महान शिक्षाविदों के विचार भी उसी भाव के मिलेंगे, क्योंकि शिक्षा का वास्तविक और पारंपरिक अर्थ कुछ यही रहा है।

अत: किसी को शिक्षा का अर्थ बदलने का अधिकार नहीं है। शिक्षा सदैव बच्चों की समझ, विवेक, कर्तव्य, चिंतन को संस्कारित करने का कार्य रहा है। जिस का उस के वयस्क होने पर अपने चुने गये या मिले रोजगार से कोई संबंध नहीं है। रोजगार का प्रशिक्षण दूसरी चीज है, जिस का समाज में सदैव अलग स्थान था।

उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में भी, सारे संसार में विश्वविद्यालय सदैव बड़े ज्ञानियों, चिंतकों, बौद्धिकों, और उन से सीखने वाले अभीप्सुओं का केंद्र होता था। पहले

तो वहाँ तकनीकी, व्यवसायिक, आदि विषय थे भी नहीं। इन विषयों का शिक्षण-प्रशिक्षण अन्य स्थानों पर होता था। जिन का अपना महत्त्व भी था। किन्तु विश्वविद्यालय का अर्थ था: सर्वोच्च ज्ञान चिंतन केन्द्र। वहाँ समाज के चिंतक, मार्गदर्शक, संचालक, नीतिकार और विद्वान निखरते थे। यह कार्य योग्यता और क्षमता को ही मुख्य आधार मान कर होता था।

आज भी, यूरोप में भी 'सुशिक्षित' उसे ही माना जाता है, जिस ने भाषा, साहित्य, विशेषकर महान साहित्य का भी अध्ययन किया हो। केवल लिखने-पढ़ने, हिसाब-किताब करने की योग्यता करने रखने वाले, अथवा व्यवसाइयों, मैनेजरों या इंजीनियरों, चिकित्सकों आदि को वह विशेषण सामान्यत: नहीं दिया जाता। वहाँ 'वेल एजुकेटेड' प्राय: उसी को कहते हैं जिस ने महान ग्रंथों का अध्ययन किया हो, न कि जिस के पास यह या वह डिग्री या डिप्लोमा हो।

आज हमारे देश के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में भी उन विषयों की ही स्थिति सब से खराब है, जिन्हें समाजिक ज्ञान और मानविकी कहा जाता है। इन में अच्छे शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों का ही अकाल-सा होता जा रहा है। दर्शन, राजनीति, भाषाविज्ञान और सामाजिक विषयों में विश्वप्रसिद्ध तो दूर, किसी प्रांत में भी प्रसिद्ध विद्वान देखना, दिखाना कठिन है।

इस का एक प्रमुख कारण यही है कि शिक्षा पर पूर्णत: चालू उपयोगितावादी दृष्टि हावी हो गई है। यह मनुष्य को केवल शरीर और उपभोक्ता समझती है। इसीलिए उस का लक्ष्य रोजगारोपयोगी हो गया है और विवेक-संस्कार, साहित्य-कला, आत्म-विकास, तथा शुद्ध ज्ञान-चिंतन दोयम या निरर्थक सा मान लिया गया है। इस की अघोषित मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिक के अधिक वस्तुएं और सुविधाएं चाहिए। मानो यही जीवन का मूल-मंत्र है। मगर यहीं वैसे चालू उपयोगितावाद का अंत भी हो जाता है। तभी वह कथित प्रगति के बावजूद बढ़ती अनैतिकता, अनाचार, झगड़े, असंतोष आदि सामाजिक व्याधियों के सामने निरुत्तर भी हो जाता है। उस के पास सामाजिक रुग्णता तथा आत्मिक खोखलेपन का उपचार नहीं है। क्योंकि उस ने मनुष्य की अवधारणा ही अधूरी कर ली है। यह एक भारी दोष है। जिस पर विचार करना ही चाहिए।

भगवदगीता में कहा है, 'इन्द्रियाणि पराण्याहु: इन्द्रियेभ्य: परम् मन:। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:।।' (३।४२)। अर्थात् मनुष्य के शरीर से परे, अर्थात उच्च, उस की इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के परे मन है। मन के परे बुद्धि है

और बुद्धि के भी परे आत्मा है। अर्थात्, मनुष्य केवल शरीर मात्र नहीं है। अत: उस की आवश्यकताएं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति और शारीरिक सुख-भोग तक सीमित नहीं हैं। इसीलिए, बच्चों और युवाओं की शिक्षा की चिन्ता तथा व्यवस्था में सदैव मनुष्य के संपूर्ण आयाम को ध्यान में रखना ही चाहिए।

यह कहना भूख को आध्यात्म से संतुष्ट करने की बात नहीं है। वरन् पेट की भूख के निदान के साथ-साथ आत्मिक, आध्यात्मिक आहार भी मिलते रहने की बात है। जिस के अभाव में शिक्षा अधूरी, तथा इसलिए हानिकारक भी हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने इसी पर कहा था, ''पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों में से एक यह भी है कि वहाँ हृदय की परवाह न करते हुए केवल बौद्धिक शिक्षा दी जाती है। ऐसी शिक्षा मनुष्य को दस गुना स्वार्थी बना देती है।'' आज की स्थिति में, इस कथन में 'पाश्चात्य' का अर्थ अब वर्तमान भारतीय सभ्यता भी लेना चाहिए, क्योंकि ठीक वही शिक्षा अपनी गुणवत्ता में और भी निम्नतर रूप में यहाँ चल रही है। पाश्चात्य देशों और भारत की शिक्षा स्थिति में केवल भाषा और साहित्य की शिक्षा की तुलना करके भी यह समझ लिया जा सकता है। स्मरणीय है कि भारत, चीन और प्राचीन रोम में ही नहीं, बल्कि ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज जैसे अपेक्षाकृत हाल की सदियों के विश्व-प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में भी सर्वोच्च ज्ञान, अर्थात् तत्व-चिंतन और साहित्य के अध्ययन की ही प्रमुखता थी। प्लेटो की अकेडमी, या तक्षशिला, नालंदा, उदंतपुरी से लेकर और बलोना, कैरो, बगदाद, द्रेपुंग तक प्राचीन विश्व के महान शिक्षा केंद्रों में यही होता था। अत: कोई कारण नहीं कि आज, जब मानवता के पास संसाधन और सुविधाएं पहले से अधिक हैं, तब उच्च अध्ययन केंद्रों का यह स्वरूप नष्ट होने दिया जाए। सांसारिक जरूरतों, विशेषत: उस की भौतिक व्यवस्थाओं के लिए विशेष अध्ययन-प्रशिक्षण तथा मनुष्य की आत्मिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं के लिए शिक्षण-मनन, दोनों साथ चल सकते हैं और चलने चाहिए। यही सिद्धांत और व्यवहार में उपयुक्त है। समाज के लिए भी, एवं व्यक्ति के लिए भी। प्रस्तुत अध्ययन इसी भावना में किया गया है।

आत्मिक और संसारी

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने *ईशावास्योपनिषद* के इस श्लोक का अपने लेखन और वक्तव्यों में कई बार उल्लेख किया है: 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥'

इस में दो मूल अवधारणाएं हैं — विद्या और अविद्या। यहाँ दोनों सकारात्मक हैं, एक दूसरे के विलोम नहीं, जैसा प्रथम दृष्टि में 'अ' उपसर्ग से प्रतीत हो सकता है। यहाँ अविद्या का अर्थ है सांसारिक ज्ञान, तथा विद्या का अर्थ है आत्मिक या आध्यात्मिक ज्ञान। इस श्लोक को ईशावास्योपनिषद् के अन्य श्लोकों के साथ मिलाकर पूर्णत: समझा जा सकता है। इस श्लोक से ठीक पहले वाले श्लोक में अविद्या और विद्या के बारे में ही यह भी कहा गया है: 'अन्धं तम: प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते। ततो भूय इव तमो य उ विद्यायां रत: ॥'

अर्थात्, जो केवल अविद्या, अर्थात् संसार की, उपासना करते हैं वे तो अंधकार में प्रवेश करते ही हैं। लेकिन जो केवल विद्या, अर्थात् आध्यात्म में ही लीन हैं वे उस से भी अधिक घने अन्धकार में जा पड़ते हैं। इस दोनों को मिलाकर अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। वह यह कि जो लोग विद्या और अविद्या दोनों का यथार्थ समझते हैं. वे अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करते हुए विद्या द्वारा अमरत्व लाभ करते हैं। अत: 'विद्ययामृतमश्नुते' - विद्या से अमरत्व लाभ होता है - का संपूर्ण अर्थ गूढ़ तथा मूल्यवान है। यह शिक्षा के संपूर्ण दर्शन, मार्ग, और कर्तव्य को सब से सटीक रूप से स्पष्ट करता है।

टैगोर ने अविद्या और विद्या के संबंध को विज्ञान (साइंस) और काव्य, पश्चिमी मानसिकता और पूर्वी मानसिकता, सांसारिक और आध्यात्मिक, ससीम और निस्सीम ज्ञान के तुलनात्मक सम्बन्धों के रूप में भी देखा था। सभी का निचोड़ यह है कि शिक्षा में और जीवन-पथ पर दोनों का योग आवश्यक है। उन्होंने इस बात को कई स्थलों पर, कई प्रसंगों में अलग-अलग तरह से व्याख्यायित किया था। उदाहरण के लिए, जो लोग केवल विज्ञान की, प्रत्यक्ष वस्तु जगत की साधना करते हैं वे पूर्ण सत्य तक नहीं पहुँच सकते। इस में एक कारण तो यही है कि बहुतेरी वस्तुएं मनुष्य के लिए दृष्टिगोचर नहीं है। अनुवीक्षण यंत्रों के उपयोग आदि के बावजूद मनुष्यों के देख पाने की भारी सीमा है।

उदाहरण के लिए टैगोर किसी पुस्तक का उदाहरण लेते हैं। किसी पुस्तक को आप केवल उस के पन्ने गिन कर, आकार माप कर, उस का वजन लेकर, उस में उपयोग किए गए कागज की गुणवत्ता का विश्लेषण, आदि करके नहीं जान सकते कि उस की मूल्यवत्ता क्या है। दूसरे उदाहरण में, उन्होंने एक पियानो और उस के प्रति चूहे के कुतूहल का भी उल्लेख किया है। कोई चूहा पियानो की लकड़ी, उस के तार, पुर्जे-पुर्जे को कुतर कर मिट्टी कर दे सकता है; किन्तु

उस से वह संगीत का रहस्य नहीं समझ सकता। ठीक उसी प्रकार, यह दृश्य संसार और संपूर्ण अस्तित्व भी केवल भौतिक माप–तौल, गिनती और विश्लेषण, आदि करके नहीं जाना, समझा जा सकता।

टैगोर के अनुसार, वर्तमान युग का कोरा वैज्ञानिक और पाषाण् युग का आदिम मानव, दोनों ही कुछ मामलों में समान रूप से दृष्टिहीन प्रतीत होते हैं। दोनों के प्रत्यक्ष ज्ञान–बोध एक सीमा में बँधे हुए हैं। संपूर्ण ज्ञान के लिए ससीम और निस्सीम, सांसारिक और आध्यात्मिक, अविद्या और विद्या दोनों का योग होना अनिवार्य है। केवल सांसारिक, या केवल आध्यात्मिक पक्ष में रमने वाले; दोनों ही अधूरे हैं। *ईशावास्योपनिषद* के उपर्युक्त श्लोकों में यही इंगित किया गया है। जीवन–चर्या में समुचित रूप से लग कर मृत्यु से पार होना है, तभी अमरत्व लाभ होगा। मृत्यु को पार करने का अर्थ है संसार में रहना, जीना, सदाचरण करते हुए जीवन–यापन करना। अत: सामान्य मनुष्य के लिए भरा–पूरा जीवन और कर्म आवश्यक है। इसी को अविद्या कहा गया है, जिस से पलायन करके सामान्य मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान नहीं पा सकता।

उन दोनों श्लोकों का समवेत अर्थ टैगोर ने यह कह कर भी बताया है, कि जो अनन्त को छोड़कर सान्त की उपासना करता है, वह अंधकार में डूबता है। और जो सान्त को छोड़ कर अनन्त की उपासना करता है वह उस से भी अधिक घने अंधकार में डूबता है। सान्त और अनन्त को जो एकत्र देखता है वह सान्त के बीच से मृत्यु को उत्तीर्ण करके अनन्त के बीच अमरत्व प्राप्त करता है। यद्यपि, ससीम और निस्सीम में भेद भी है, उसे मिटाकर देखना उचित नहीं। व्यवहार में इसे पूर्वी देशों और पश्चिम देशों के किंचित दृष्टि–भेद के रूप में भी उन्होंने समझाया है। भौतिक, आर्थिक जीवन की कठिनाइयों को सहल करने के लिए पश्चिमी मेधा ने विगत शताब्दियों में बहुत परिश्रम किया है। उस पर शोध किया है, जिस से विविध आधुनिक यांत्रिक आविष्कार हुए। सदियों से पूरी दुनिया उस से चमत्कृत है और उस के प्रति प्रशंसा और तृष्णा से भी देखती है। लेकिन यह भी सच है कि पश्चिम ने उसी भौतिक पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया है। यहाँ तक कि उस के अधिकांश लोगों को सिर उठाकर यह देखने की भी फुर्सत नहीं कि अन्य पक्ष का क्या हो रहा है। उस के जीवन के नैतिक, दार्शनिक या आध्यात्मिक पक्ष में क्या घट रहा है, उस में कोई विकास या ह्रास हुआ है, यह सब विचार–बिन्दु पश्चिमी विश्व में बहुत हद तक नितांत उपेक्षित रह गए हैं।

उसी तरह, भारत समेत पूर्वी देशों में भी उसी दिशा में अधोनति हो रही है। कहने का अर्थ यह कि आज पश्चिमी या संपूर्ण मानवता ही अविद्या में जितनी आगे बढ़ी, विद्या में, तत्व-ज्ञान के क्षेत्र में उतनी ही ठहरी हुई सी रह गई है। इसीलिए वह भौतिक उपलब्धियों, आवश्यकताओं, नई-नई चीजों, सुख-सुविधाओं, शगलों, तमाशों, कमनाओं आदि में ही निरंतर और खोज-बीन करने में लिप्त रह गई है। उसी में लगभग बँध-सी गई है। यह भी एक प्रकार के अंधकार में डूबे होने जैसा ही है। ठीक उसी तरह, जैसे कभी आध्यात्मिक, दार्शनिक चिन्तन और ज्ञान में संपन्न रहे हुए भी भारत जैसे देश में आज विविध क्षेत्रों में भौतिक अस्त-व्यस्तता, अशिक्षा एवं कुशिक्षा, गंदगी, विषमता, छिन्न-भिन्न संगठन, असंतुलित रहन-सहन, सामाजिक कुरूपता, दुर्व्यवहार, कदाचार, आदि दूसरे प्रकार के अंधकार में डूबे होने का प्रमाण है।

इसीलिए टैगोर के अनुसार, संसार को अलग हटाकर कोई अमरत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। ऋषियों ने भी कहा है, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतम् समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।' अर्थात्, कर्म करते हुए इहलोक में सौ वर्ष जीने के इच्छा करो। हे मानव, तुम्हारे लिए ऐसा कोई पथ नहीं है जहाँ कर्म से लिप्त न होना पड़े। लेकिन जहाँ कर्म अनिवार्य है, वहाँ कर्म का अन्त भी है। जीवन के साथ मरण भी अनिवार्य है। हमें दोनों को सहज ही ग्रहण करना, और उस के लिए सचेत रहना चाहिए। सचेत रहने का अर्थ, जीवन के विभिन्न काल में, विभिन्न प्रकार के कर्तव्य और प्रयोजनों के बारे में स्पष्ट रहना चाहिए। जो कर्तव्य युवावस्था या गृहस्थ आश्रम का है, वही वृद्धावस्था या विद्यालय-जीवन का नहीं होता।

इसी संदर्भ में टैगोर ने पाया कि प्रचीन काल में भारतीय मेधा ने मानव-जीवन का समुचित विभाजन किया था। जैसे दिन के चार स्वाभाविक भाग हैं — प्रातः, दोपहर, संध्या और रात। वैसे ही जीवन को भी चार आश्रमों, चरणों में विभक्त किया था। जैसे दिन में प्रकाश और गर्मी धीरे-धीरे मध्याह्न तक बढ़ती है, वैसे ही आदमी की इंद्रिय-शक्ति बढ़ती जाकर, फिर समय से क्षीण होने लगती है। इस स्वाभाविक क्रम का अवलोकन कर आरंभिक भारतीय ज्ञानियों ने जीवन के समुचित निर्वहन की व्यवस्था की। पहले शिक्षा, फिर दुनियादारी, फिर बन्धनों को ढीला करना, और अन्त में मुक्ति। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और प्रवज्या। किन्तु आज जीवन के प्रति यह प्राकृतिक दृष्टि उपेक्षित हो गई है। वह प्रकृति

को अलग करते हुए नितांत मनुष्य केंद्रित है। फिर मनुष्य की समझ भी प्राय: भौतिकवादी है। निरे शरीर के रूप में ही मनुष्य को देखा जाता है। वही अधूरी दृष्टि संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था में भी आ गई है। इस शिक्षा में प्रकृति से तादात्म्य, किसी ब्रह्म का अंश, अथवा आत्मा का अस्तित्व, आदि की चिन्ता नहीं झलकती। तदनुरूप कर्म-फल, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के कर्म-फल, जीवन-मरण के सत्य आदि से मानो घोषित या अघोषित रूप से इंकार किया जाता है। फलत: जीवन और मृत्यु को परस्पर विरोधी समझा जाता है।

फिर, जीवन को भी सपाट, आदि से अंत तक एक जैसा, भोगमात्र-केंद्रित माना जाता है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मानो मनुष्य का एक ही काम हो: उत्पादन करना और उपभोग करना। यह संयोग नहीं कि आज आम व्यापारिक और राजकीय-नीतिगत मुहावरों में सामान्य नागरिक को 'कन्ज्यूमर' और 'टैक्स-पेयर' कहा जाता है। मानो उपभोग करने, टैक्स लेने-चुकाने तथा और उपभोग की समुचित सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक सुव्यवस्था करने के सिवा मानव जीवन का कोई और लक्ष्य या रूप नहीं है। अथवा महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए हर हाल में जीवन को, यौवन को खींच-तान कर लंबा करने, मनुष्य शरीर और दिमाग को अधिकाधिक आराम, मनोरंजन उपलब्ध कराने, तथा विविध उपभोग वस्तुएं बनाने के अतिरिक्त साइंस और तकनीक का भी कोई लक्ष्य नहीं समझा जाता। शिक्षा और शोध को भी मुख्यत: इसी की क्षमता विकसित करने और व्यवस्था करने जाने का ही उद्देश्य दिया गया है। इसलिए मृत्यु को विवशता और पराजय माना जाता है। कोई सामान्य गति नहीं। यह मनुष्य को भौतिक संहति मानने, तथा जीवन व संसार के प्रति एकायामी, संकीर्ण दृष्टिकोण का परिणाम है।

लेकिन प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार जगत और प्रकृति, बाह्य शक्ति और आंतरिक शक्ति, शरीर और आत्मा का सामञ्जस्य करना शाश्वत रूप से अनिवार्य है। अन्यथा सुख, आनन्द और मुक्ति नहीं हो सकती। बल्कि उलटे मनुष्य पीड़ित रहेगा। बाह्य जगत के साथ प्राण की, प्राण के साथ मन की एकरूपता नष्ट करने से नए-नए दु:ख-कष्ट उभरते रहेंगे। यंत्रों, उपकरणों, विविध रसास्वादनों और मनोरंजनों के सतत आविष्कार से उन का कभी शमन नहीं होगा। वह 'महाशनो' है, क्योंकि इच्छाओं का अंत नहीं है। एक बार इच्छा अपनी स्वाभाविक सीमाओं को पीछे छोड़ देती है, तब फिर उस के रुकने, शान्त होने का कोई कारण

नहीं रह जाता। वह केवल 'चाहिए', और चाहिए की अंध-रट लगाती हुई बढ़ती जाती है। आज ऐसे मनुष्य पूरे विश्व में अधिकाधिक संख्या में बढ़ रहे हैं। उन की स्थिति क्या है, इसे भारत की महान ज्ञान-पुस्तक *भगवदगीता* के 16 वें अध्याय के 7-13वें श्लोकों का अध्ययन-मनन करके पहचाना जा सकता है। मनुष्य निरी इच्छाओं, कामनाओं के दास बनकर सुख की मरीचिका के पीछे दौड़ते रहते हैं, मगर सुखी नहीं हो पाते। क्योंकि उन में बाह्य और आंतर के सामञ्जस्य का पूर्ण अभाव है। अविद्या और विद्या की समझ का अभाव है।

कहने का अर्थ यह नहीं कि इच्छा को नष्ट करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। बल्कि जैसा कविगुरू टैगोर ने कहा था, 'इच्छा को विश्व-इच्छा के साथ एक सुर में बाँधना ही समस्त शिक्षा का चरम लक्ष्य है।' उन्होंने यह भी कहा था कि यदि प्रारंभिक अवस्था में ही इस का प्रयत्न न किया गया तो हमारा चंचल मन पग-पग पर ठोकर खाता है। हमारा ज्ञान लक्ष्यहीन, प्रेम कलुषित, कर्म व्यर्थ और दिशाहीन हो जाता है। हमारे ज्ञान, प्रेम और कर्म का विश्व के साथ सहज मेल नहीं होता। हम आत्मकेंद्रित इच्छाओं की मरीचिका के पीछे मानो अचेत दौड़ते चले जाते हैं। भौतिक शक्ति और समृद्धि की अंधा-धुंध प्रतियोगिता असीम इच्छाओं को अनियंत्रित छोड़ देने के कारण ही है। गरीबी या अभाव इस का मुख्य कारण कतई नहीं है। जिन क्षणिक, कुछ तो बेकार या हानिकारक भी, अशमनीय उत्तेजनाओं और उन्माद को हम सुख, एक्साइटमेंट, प्लेजर, आदि मान कर चुनते और उन के पीछे भागते या उन पर अधिक समय देते हैं, उसी से हमारा अंत:करण कामनाओं की दासता में स्थाई रूप से पड़ जाता है। हमारा बाह्य जीवन दिशाहीन और आंतर पंगु हो जाता है। पूरी आयु केवल इच्छाओं की दासता में चलते हुए, जरा के क्रमश: प्रहार से हम कहीं आकस्मिक रूप से जीवन-डोर से टूट जाते हैं। क्योंकि हम ने प्रकृति के नियम की उपेक्षा करके अज्ञान से, अपनी मनमानी कल्पनाओं से जीवन चलाया था। दुर्भाग्यवश, इस विडंबना को पहचानने के बदले आज शिक्षा में अधिकाधिक इसी दृष्टि को जाने-अनजाने ध्रुवतारा सा बना डाला गया है।

आज विकसित मानव जीवन-पद्धति और उस की शिक्षा का समग्र आकलन करने पर इस अधूरेपन, असंतुलन और असामञ्जस्य को सहज ही पहचाना जा सकता है। वही जीवन-पद्धति और शिक्षा आज संपूर्ण विश्व में बड़े पैमाने पर चल और बढ़ रही है। इस पर ठहर कर विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि

पूरी औपचारिक शिक्षा-पद्धति विपरीत मान्यताओं से चल रही है, फिर भी भारत की सामान्य बुद्धि आज भी कहीं न कहीं कुछ महसूस करती है कि जीवन की अवस्था के अनुकूल अपना कर्तव्य निर्धारित करना चाहिए। सभी कर्तव्यों में समान रूप से श्रेष्ठता का प्रयत्न भी करना चाहिए। साथ ही, इस जीवन के सहज अन्त और जीवन-मुक्ति की अभीप्सा भी होनी चाहिए। केवल किसी भी तरह धन-संपत्ति संग्रहीत करने, भोग-विलास में लिप्त रहने, तथा उसी के लिए जीवन को बढ़ाने जैसी लालसाएं अंधी, बंद गली में बढ़ते जाने के समान हैं। यह केवल अविद्या में रमने, अर्थात् अंधकार में डूबे रहने के समान है। सामान्य भारतीय बुद्धि आज भी इस सत्य को धुँधले ही सही, कुछ न कुछ पहचानती है। यद्यपि उसे इस से विमुख करने के बेतहाशा उपाय हो रहे हैं। जाने अनजाने दोनों रूपों में।

अतएव, सहज, सर्वांग जीवन जीने की चेतना और तदनुरूप व्यवस्था करना ही हमारी अभीप्सा होनी चाहिए। बच्चों, युवाओं की शिक्षा उसी दृष्टि से समायोजित संशोधित की जानी चाहिए। यह कोई सैद्धांतिक औपचारिक आग्रह नहीं, व्यावहारिक लाभ की माँग भी है। बशर्ते हम लाभ को भी सर्वांगीण दृष्टि से देखें, केवल भौतिक लाभ को ही लाभ न समझें। सर्वांग जीवन की यह समझ भी ईशावास्योपनिषद् के आरंभ में ही है:

ईशावास्यम् इदम् सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्।

यह एक क्लासिक, शाश्वत, व्यहारिक दृष्टि है। वस्तुत: यही किसी भी मनुष्य के लिए जीवन के प्रति, उपभोग के प्रति, कर्म के प्रति, तथा अविद्या की साधना के प्रति सम्यक दृष्टि है। जगत् की सत्ता ईश्वरमय अथवा किसी परमसत्ता से आप्यायित है। तदनुरूप जो उस परमसत्ता का है, अथवा जो उस ने तुम्हें दिया है, उसे समझ कर, उस के स्वामित्व की लालसा छोड़ कर, उस का उपभोग करो। साथ ही किसी धन का तथा किसी अन्य के धन का लोभ न करो। यह भी उन्हीं श्लोकों का आरंभ है, जिन के बाद अविद्या और विद्या के प्रसंग आते हैं। अत: उन के अर्थों को समझने के लिए भी यह अनिवार्य पृष्ठभूमि है। इस का व्यावहारिक अर्थ यह भी है कि संसार के झगड़े, लोगों, देशों, समाजों के बीच का विषैलापन तभी दूर होता है जब हम संसार को किसी शाश्वत परमसत्ता, परमपिता, ब्रह्म, अनश्वर मूलसत्ता से आच्छन्न जानते हैं। अपूर्ण और पूर्ण, सचल

और अचल, परिवर्तनशील और शाश्वत सत्ताओं का बोध रखते हैं। उसी आलोक में इस जगत में अपने कर्म के प्रति जागरूक रहते हैं। तदनुरूप अपनी और अपनी संततियों की शिक्षा व्यवस्था करते हैं।

इस सत्य को अच्छी तरह से परख कर आत्मसात कर लेने से हमारे मन की संकीर्णता, अधीरता, चंचलता भी जाती रहती है। संसार में कर्म करते हुए भी हम उन से, कर्म-फल से, सांसारिक परिलब्धियों से सहज निर्लिप्त होने की आवश्यकता, और उपयोगिता भी महसूस करते हैं। तब हमारी इच्छाएं बेलगाम नहीं भागती हैं, क्योंकि हमारा सत्य का बोध, और तदनुरूप विवेक उन्हें नियंत्रित करता है। अपने जीवन-यापन के लिए परिश्रम पूर्वक काम करते हुए, परिवार के लिए सुख-सुविधाएं जुटाते हुए, हम उस के परिणाम से निर्विकार रहने; भोग करते हुए भी उस से लिप्त न होने की आवश्यकता समझ पाते हैं। क्योंकि हमें प्रकृति और जगत के सामञ्जस्यपूर्ण अस्तित्व का, स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप का संपूर्ण बोध होने लगता है। यह बोध कि मनुष्य का स्वरूप केवल भौतिक नहीं, आध्यात्मिक सत्ता भी है। हमारी अस्मिता केवल शरीर ही नहीं, आत्मा भी है। केवल इहलोक ही नहीं है, इस से परे भी कुछ है जिन से हमारा कोई अनिवार्य सम्बन्ध है। जगत और प्रकृति, जंगम और शाश्वत के नियमों को पहचान कर ही हम अपने सहज, सुखकर कर्तव्य करते हुए आनन्दमय रह सकते हैं।

अत: प्रकृति और जगत, अचल और चल, आत्मा और शरीर, अविद्या और विद्या का सहज बोध तथा इन दोनों का योग मनुष्य के सहज जीवन, आनन्द, विकास और शान्ति के लिए अनिवार्य है। तब वह कर्म करते हुए भी कर्ता होने का अहंकार या शोक नहीं पालता। तब संसार की सुख-सुविधा की वस्तुएं उसे किसी बंधन में नहीं जकड़ती। उन का उपभोग करते हुए भी मनुष्य उन में आसक्त नहीं होते, उन वस्तुओं का ढेर लगाते जाने में जीवन को बिता, मिटा नहीं देते। सभी वस्तुओं को ईश्वर या अनन्त जगत का दिया हुआ दान समझकर उपभोग करने से लोभ-लालसा, आसक्ति जनित क्षोभ, क्रोध, संघर्ष, हिंसा और प्रतियोगिता में समय नष्ट करने से दूर हो सकते हैं। इस तरह स्वयं अनावश्यक पीड़ित होने से बच सकते हैं। विद्या की समझ न होने से यह पीड़ा मनुष्य अज्ञानवश स्वयं मोल लेते रहते हैं। यदि संसार के सुख, कर्म और जीवन को आत्मोपलब्धि से संयोजित कर लिया जाए, तभी श्रेष्ठ और आदर्श समाज-रचना हो सकेगी। सम्यक शिक्षा इस में अत्यधिक सहायक हो सकती है।

इस प्रसंग में प्राचीन पूरब की जीवन-दृष्टि और आधुनिक पश्चिम की मेधा, परिश्रम, अनुशासन, और आत्मविश्वास — इन दोनों को एक-दूसरे से सीखने, सहयोग करने की आश्यकता है। टैगोर ने 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह...' वाले श्लोक में दोनों का मिलन-मंत्र भी देखा था। सांसारिक जीवन की उन्नति और सुव्यवस्था, तथा तत्व-चिन्तन में समृद्धि — अर्थात् अविद्या तथा विद्या का योग, यह संपूर्ण मानवता की आवश्यकता है। इन में से एक भी पक्ष की दुर्बलता या उपेक्षा से मानवता अंधेरे में रहेगी, जैसी कि अभी वह है। *ईशावास्योपनिषद्* के ही अन्य श्लोकों के सहारे कवि ने समझाया था कि 'यत्किंच जगत्यां जगत' — यहाँ तक तो साइंस आवश्यक है; मगर इस के बाद साथ ही साथ 'ईशावास्यम् इदम् सर्वम्' का तत्वज्ञान भी चाहिए। इस तरह साइंस और तत्वज्ञान, दोनों के मिलने के अभाव से पूरी मानवता ही कष्ट में हैं। जहाँ पूरब के देश अभाव, दैन्य और कुव्यवस्था से पीड़ित हैं, वहाँ पश्चिम के देश विलासिता, भोगवाद, आंतरिक खालीपन और अशान्ति से क्षुब्ध एवं निरानन्द हैं। वे भौतिक विश्व को जीतते चले जाने के अलावा कोई और लक्ष्य संधान नहीं करते, क्योंकि उन्हें विद्या का बोध ही नहीं हुआ है। अथवा महान ग्रीक चिंतकों से मिला जो बोध उन्हें पहले था, वह अभी लुप्त-प्राय हो गया है।

यही कारण है कि आज भी पश्चिमी विश्व के अनेक व्यक्ति अपने जीवन में किसी शून्य को भरने की धुँधली कामना में पूरब के गुरुओं, महात्माओं, संतों की तलाश करते भारत, चीन, तिब्बत आदि देशों में आते रहते हैं। जबकि भारत से अच्छे-अच्छे सुखी, संपन्न घरों के युवक भी और अधिक धन, और सुविधा, सुव्यवस्था आदि मात्र की चाह में अमेरिका, यूरोप आदि स्थानों पर जाने, बसने की योजनाएं बनाते रहते हैं। यह दोनों प्रवृत्तियाँ अविद्या और विद्या की समझ के अभाव, उन में असंतुलन या पूर्ण विलगाव को प्रकट करती हैं। इन का सम्यक योग होना ही मानव और मानवता के लिए समाधान है। न केवल भौतिक समृद्धि, वरन् अमरत्व की प्राप्ति, यह दोनों ही मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। सच्ची शिक्षा का कर्तव्य है, इन आवश्यकताओं की संतुलित समझ प्रदान करना तथा उन की प्राप्ति का मार्ग दिखाना। उपनिषद के '... विद्ययामृतमश्नुते' का यही संपूर्ण अर्थ है। यह न केवल हमारे लिए, वरन संपूर्ण मानवता के लिए शाश्वत महत्त्व रखता है।

यह अध्ययन

उसी महत्ता को स्वीकार करते हुए, उसे आधार मानकर यह अध्ययन प्रस्तुत है। सैद्धांतिक और व्यावहारिक, भौतिक और मानसिक, अथवा संसारी और आत्मिक शिक्षा के मूलभूत तत्वों को एक बार पुन: सामने रखना, ताकि उन से लाभ उठाया जा सके।

कलेवर में लघु होते हुए भी यह अध्ययन संकलित विचारों के अर्थ में सारगर्भित है। इस में शिक्षा के संबंध में पूर्वोक्त चार महान भारतीय मनीषियों के विविध ग्रंथों, लेखों, व्याख्यानों की सब से महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय बातें विभिन्न उप-शीर्षकों में यथासंभव एकत्रित हैं। चारों मुख्य अध्यायों में इस लेखक ने अपनी ओर से उन की कोई व्याख्या या विस्तार नहीं किया है। चारों मनीषियों की कही हुई बातों में केवल कहीं-कहीं उन के किसी अवलोकन या विचार का संदर्भ स्पष्ट करने लिए, अथवा उस की पृष्ठभूमि या अर्थ का कोई आवश्यक तत्व रखने के लिए कहीं कोई शब्द या वाक्यांश जोड़ा है। ताकि पाठक को हू-ब-हू वह आशय संप्रेषित हो, जो संबंधित मनीषी का था। इस लेखक की अपनी कुछ बातें केवल इस प्राक्-कथन तथा उपसंहार में हैं।

साथ ही, परिशिष्ट में रखी बातों का चयन भी इस लेखक द्वारा किया गया है। किन्तु वे बातें भी संबंधित मनीषियों के अपने शब्दों में हैं। जिन का अनुवाद मात्र इस लेखक ने किया है। (सिवा बंकिम चन्द्र का लेखन-अंश, जो हिन्दी कवि हंस कुमार तिवारी का किया हुआ है)। जैसा पाठक देख सकेंगे, परिशिष्ट में दिए गये सभी विचार मुख्य अध्यायों में संग्रहीत विचारों से कहीं न कहीं जुड़ते हैं, तथा उन में किसी विचार का कोई अतिरिक्त महत्त्व अथवा मूल्यवान पक्ष दर्शाते हैं। अलग-अलग देश और काल में, अलग-अलग पृष्ठभूमि के, विभिन्न मनीषियों की बातें होने के कारण उन सब का इकट्ठा अध्ययन और मनन उपयोगी हो सकता है।

स्वतंत्र रूप से भी मुख्य अध्यायों तथा परिशिष्ट में भी सभी अंश संपूर्ण हैं। इस अर्थ में, कि उन के अधिकांश संदेश अपने आप में भी कोई पूरी बात कहते हैं। अत: किसी भी सुधी पाठक, शिक्षक या शिक्षा अध्येता के लिए लाभदायक हो सकते हैं। इसीलिए इस लेखक ने उन विचारों को सोने की ईंटों जैसा समझा है, जिन का उपयोग शिक्षा रूपी भवन के निर्माण में किया जा सकता है। अपनी शिक्षा, जो प्रकृति से ही सदा असमाप्त रहती है, और दूसरों की शिक्षा में सहयोग

देने के लिए भी। किसी सुधी पाठक, माता-पिता, शिक्षक, तथा सचेत युवा द्वारा स्वयं भी यह किया जा सकता है। इस अर्थ में, यह अध्ययन मुख्यत: कोई निरी अकादमिक नहीं, अपितु एक व्यावहारिक पुस्तक हो सकने की आशा से किया गया है।

2.
स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द को केवल धर्म-गुरू समझना एक अधूरी धारणा है। वे एक महान शिक्षक भी थे: भारतीय ज्ञान-परंपरा के एक आधुनिक व्याख्याता। अमेरिका और यूरोप में उन्होंने संपूर्णत: योग-वेदान्त के ही व्याख्यान दिए थे, जिस से उन्हें ख्याति मिली। अत: उन की बातों को किसी धार्मिक महापुरुष के उपदेश भर मानकर, असावधानीवश एक सामान्य मत मानकर किनारे करना भूल होगी। एक रूप में उन के विचारों की विशेष महत्ता है। क्योंकि विवेकानन्द ने एक सौ तीस वर्ष पहले अमेरिका और यूरोप की जनता के विविध संदेहों, प्रश्नों, आकुलताओं का ही अवलोकन और सामना किया था। अत: उन के सामाजिक विचारों को किसी मत-प्रचारक की एकांगी बातें मानना अनुपयुक्त है। वस्तुत:, उन की बातें व्यावहारिक अनुभवों से पुष्ट होकर कही गई थीं — वे केवल थ्योरेटिकल बातें नहीं हैं।

फिर, ऐतिहासिक रूप से, और सत्य की परख की दृष्टि से, सौ साल का समय कुछ भी नहीं है। इसलिए विवेकानन्द के विचारों को आधुनिक, समसामयिक मानकर उन का परीक्षण, मनन करना चाहिए। पहले से ही उसे 'पुरानी', संदर्भहीन मान लेना जल्दबाजी होगी। यह भी ध्यान रहे कि जिन उपनिषदों पर ही विवेकानन्द का सारा सिद्धांत, विचार-विश्लेषण आधारित है, वे हजारों साल पहले के होकर भी आज पुराने, या असत्य नहीं माने जाते।

यद्यपि स्वतंत्र भारत में धीरे-धीरे स्वामी विवेकानन्द की सीखें प्राय: उपेक्षित होकर मुख्यत: 'रिलीजियस' प्रचारक की श्रेणी में रख दी गईं। मानो बच्चों, युवाओं के लिए उन की शिक्षाओं का उपयोग न हो। किन्तु इस पर गंभीरता से पुनर्विचार करना चाहिए। उन की बातों से किन्हीं की सहमति-असहमति अलग है। पर इसे अपने सही संदर्भ और अर्थ में समझना उपयोगी है।

यह सत्य है कि विवेकानन्द ने अपनी संपूर्ण शिक्षाओं के केंद्र में धर्म को रखा था। (किन्तु, जैसा आगे हम पाएंगे, धर्म की उन की धारणा रिलीजन यानी किसी मत-विश्वास से नितांत भिन्न थी)। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि यदि धर्म को उपेक्षित कर आर्थिक, राजनीतिक उन्नति पा भी ली गई, तो भारत का अस्तित्व ही खत्म हो जा सकता है! यह गंभीर चेतावनी उन के ही शब्दों में, ''यदि तुम धर्म को फेंक कर राजनीति, समाज-नीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो उस का फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जाएगा। यदि तुम इस से बचना चाहो, तो अपनी जीवन-शक्ति रूपी धर्म से ही तुम्हें अपने सारे कार्य करने होंगे — अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र इस धर्म को बनाना होगा।''

इस चेतावनी के बाद लगभग सवा-सौ वर्ष बीत चुके हैं। तब से अब तक संपूर्ण भारतवर्ष, और संपूर्ण समाज के अनुभवों से मिलान करके सचाई का आकलन किया जा सकता है। उन के व्याख्यानों के संग्रह *'फ्रॉम कोलंबो टु अल्मोड़ा'* में 16 जनवरी 1897 से 31 मार्च 1901 के बीच दिए गये व्याख्यान हैं। इन में दो व्याख्यान लाहौर और ढाका में दिए गये थे, जिन के शीर्षक हैं क्रमशः 'हिन्दू धर्म के सामान्य आधार' तथा 'वह धर्म जिस में हम पैदा हुए'। आज सहज देखा जा सकता है कि वह समाज जिन के समक्ष वह व्याख्यान दिया गया था, अब वहाँ प्रायः समाप्त है। इस के कारणों पर जब इतिहासकार और विचारशील लोग ध्यान देंगे तो संभवतः उन्हें उक्त चेतावनी 'तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जाएगा' पर भी ध्यान देना ही पड़ेगा।

बहरहाल, स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं में मुख्यतः दो प्रकार तरह के संदेश मिलते हैं। एक शुद्ध आध्यात्मिक विश्लेषण, विशेषतः वेदान्त के सिद्धांतों की व्याख्या। राजयोग, भक्तियोग, धर्म-तत्व, धर्म-रहस्य, धर्म-विज्ञान, आदि पुस्तकें और व्याख्यान। दूसरी श्रेणी सामाजिक, मानवीय चिन्ताओं की है। सामाजिक सुधार, वैश्विक परिदृश्य में भारत, देशभक्ति के कर्तव्य, एवं बच्चों-युवाओं की शिक्षा संबंधी विषयों पर उन की बातें। पहले हम इसी बिन्दु पर उन के विचारों का आकलन करते हैं। यहाँ से आगे की सभी बातें मुख्यतः विवेकानन्द के अपने शब्दों में हैं।

शिक्षा के तत्व

मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य

में स्वयंसिद्ध है; कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता; सब अन्दर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, यथार्थ में, मानसशास्त्र-संगत भाषा में, हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता है', 'अनावृत' या 'प्रकट' करता है। मनुष्य जो सीखता है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना।

चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि के समान, ज्ञान मन में निहित है और सुझाव या उद्दीपक-कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है। सभी ज्ञान और सभी शक्तियाँ भीतर हैं। हम जिन्हें शक्तियाँ, प्रकृति के रहस्य या फल कहते हैं, वे सब भीतर ही हैं। मनुष्य की आत्मा से ही सारा ज्ञान आता है।

आप किसी बालक को शिक्षा देने में उसी प्रकार असमर्थ हैं, जैसे कि किसी पौधे को बढ़ाने में। पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है। पर हाँ, आप उसे अपने ही ढंग से आगे बढ़ने में सहायता दे सकते हैं। आप जो कुछ कर सकते हैं, वह निषेध-आत्मक ही होगा, विधि-आत्मक नहीं। आप केवल बाधाओं को हटा सकते हैं, और बस, ज्ञान अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाएगा। जमीन को कुछ पोली बना दें, ताकि उस में से उगना आसान हो जाए। उस के चारो ओर घेरा बना दें और देखते रहें कि कोई उसे नष्ट न कर दें। उस बीज से उगते हुए पौधे की शारीरिक बनावट के लिए आप मिट्टी, पानी और समुचित वायु का प्रबन्ध कर सकते हैं, और बस यहीं आप का कार्य समाप्त हो जाता है। वह बालक अपनी प्रकृति के अनुसार जो भी आवश्यक हो ले लेगा।

इस प्रक्रिया में सीखने वाले की स्वाधीनता ही उस के विकास की पहली शर्त है। यदि कोई यह कहने का दुस्साहस करे कि 'मैं इस नारी या बालक के उद्धार का उपाय करूँगा', तो वह गलत है। हजार बार गलत है।

शिक्षक ऐसा समझ कर कि वह शिक्षा दे रहा है, सब कार्य बिगाड़ डालता है। समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में अवस्थित है, उसे केवल जागृति – केवल प्रबोधन की आवश्यकता है, और बस इतना ही शिक्षक का कार्य है। हमें बालकों के लिए केवल इतना ही करना है कि वे अपने हाथ, पैर, कान, और आँखों के उचित उपयोग के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना सीखें।

फिर, हमें विधायक विचार, सकारात्मक भाव में सुझाव रूप के विचार, सामने रखने चाहिए। निषेधात्मक विचार लोगों को दुर्बल बना देते हैं। जो भी विषय हो, भाषा और साहित्य, काव्य और कला, आदि हर एक विषय में हमें मनुष्यों को सदैव उन के विचार और कार्य की भूलें नहीं बतानी चाहिए, वरन् उन्हें वह मार्ग दिखा देना चाहिए, जिस से वे इन सब बातों को और भी सुचारू रूप से कर सकें।

हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए जिस से चरित्र बने, मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिस से मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

जिस प्रक्रिया से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम है शिक्षा।

साथ ही, शिक्षा केवल विविध सीखों को याद कर लेना ही नहीं है। उस से बढ़कर है उस के अनुसार अपने व्यवहार को ढालना।

यदि कोई केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात कर उन के अनुसार आज अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेता है, तो वह एक पूरे ग्रंथालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित है। यदि शिक्षा का अर्थ जानकारी ही होता, तब तो पुस्तकालय संसार में सब से बड़े सन्त हो जाते और विश्वकोष महान ऋषि बन जाते।

आत्मविश्वास और चरित्र का प्रशिक्षण

ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक ही मार्ग है और वह है *एकाग्रता*। 'मन की एकाग्रता' ही शिक्षा का संपूर्ण संसार है। ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। चाहे विद्वान अध्यापक हो , चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है, तो उसे उपयुक्त प्रथा से ही काम लेना पड़ेगा।

मैं तो मन की *एकाग्रता* को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ – ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि मुझे एक बार फिर से अपनी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं विविध विषयों का अध्ययन नहीं करूँगा। मैं तो एकाग्रता की ओर मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को बढ़ाऊँगा, और तब साधन या यन्त्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।

जो मनुष्य दिन-रात सोचता रहता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, तो वह सचमुच नाचीज बन जाएगा। अगर तुम सोचो कि मैं कुछ हूँ, तो सचमुच तुम में शक्ति आ जाएगी। यह एक महान सत्य है जिस का तुम्हें स्मरण रहना चाहिए। आत्मविश्वास मानवता का एक सब से शक्तिशाली अंग है। पहले अपने आप में विश्वास रखो। यह जान लो कि भले ही एक व्यक्ति छोटा सा बुलबुला हो और दूसरा पर्वत के समान ऊँची तरंग, पर बुलबुले और तरंग दोनों के ही पीछे वही अनन्त सागर है। वही अनन्त सागर मेरा और तुम्हारा दोनों का आधार है। जीवन, शक्ति और आध्यात्मिकता का वह अनन्त महासागर जैसा मेरा है, वैसा ही तुम्हारा भी। अत: हे भाइयो! तुम अपनी सन्तानों को उन के जन्म-काल से ही इस महान, जीवनप्रद, उच्च और उदात्त तत्व की शिक्षा देना शुरू कर दो।

सदैव और सभी अवस्थाओं में मन, वचन, और कर्म से पवित्र रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। प्रत्येक बालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की शिक्षा देनी चाहिए। तभी उस में श्रद्धा और विश्वास की उत्पत्ति होगी। अपवित्र कल्पना उतनी ही बुरी है, जितना अपवित्र कार्य। ब्रह्मचारी को मन, वाणी और कर्म से शुद्ध रहना चाहिए।

क्योंकि, हर कर्म का परिणाम होता है। चाहे गोपन रूप से भी क्यों न किया जाए। मनुष्य के मन को यदि झील की उपमा दी जाए, तो उस में उठने वाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरंग जब दब जाती है, तो वास्तव में वह बिलकुल ही नष्ट नहीं हो जाती, वरन चित्त में एक प्रकार का चिन्ह छोड़ जाती है तथा ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है, जिस से वह लहर दुबारा फिर से उठ सके। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है। और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि ये अज्ञात रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में विशेष प्रबल होते हैं। हम प्रति मुहुर्त जो कुछ हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों का प्राबल्य रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है; और यदि अशुभ संस्कारों का, तो बुरा। यदि कोई मनुष्य निरंतर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उस का मन भी बुरे विचारों से पूर्ण हो जाएगा और उस के बिना जाने ही वे संस्कार उस के समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डाल देंगे। असल में ये बुरे संस्कार निरंतर

अपना कार्य करते रहते हैं। ये संस्कार उस में अनुचित कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देंगे। वह तो इन संस्कारों के हाथ एक यंत्र-सा हो जाएगा।

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उस के बड़े कार्यों से उस की जाँच मत करो। मनुष्य के अत्यंत साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिन से तुम्हें एक महान पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। कुछ विशेष बड़े अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिस का चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान रहता है।

बुरी आदत का एक मात्र प्रतिकार है — उस के विपरीत आदत डालना। सभी खराब आदतें अच्छी आदतों द्वारा वशीभूत की जा सकती हैं। सतत अच्छे कार्य करते रहो और सदा पवित्र विचार मन में सोचा करो। नीच संस्कारों को दबाने का यही एक मात्र उपाय है।

किसी दैवी (अतिप्राकृत) व्यक्ति को दोष मत दो। न तो निराश या विषण्ण होओ और न यही सोचो कि हम ऐसी विषण्ण अवस्था में पड़े हैं, जहाँ से हम कभी छुटकारा पा नहीं सकते, जब तक कि कोई आकर हमें अपने हाथ का सहारा नहीं देता। हम रेशम के कीड़े के समान हैं। हम अपने आप में से ही सूत निकाल कर कोष का निर्माण करते हैं और कुछ समय के बाद उसी में कैद हो जाते हैं। कर्म का यह जाल हमीं ने अपने चारो ओर बुन रखा है। अपने अज्ञान के कारण हमें यह प्रतीत होता है कि हम बद्ध हैं, और इसलिए सहायता के लिए हम रोते-चिल्लाते हैं। पर सहायता कहीं बाहर से तो नहीं आती; वह तो हमारे भीतर से ही आती है। चाहो तो विश्व के समस्त देवताओं को पुकारते रहो, मैं भी बरसों पुकारता रहा और अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है। पर वह सहायता मिली अपने भीतर से।

आधुनिक वैज्ञानिक लोग क्या कहते हैं, क्या तुम नहीं सुनते? क्रम-विकास, इवोल्यूशन, का कारण क्या है — जीवधारी की अपनी इच्छा। जीवधारी कुछ करना चाहता है, परन्तु परिस्थिति को अनुकूल नहीं पाता; इसलिए नये शरीर का निर्माण कर लेता है। यह निर्माण कौन करता है? स्वयं वही जीवधारी, उस की इच्छाशक्ति। अत: अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते रहो और वही तुम्हें ऊपर उठाती जाएगी। इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। तुम पूछ सकते हो, यदि वह सचमुच

सर्वशक्तिमान है, तो फिर मैं सब कुछ क्यों नहीं कर सकता? पर तुम तो केवल अपनी क्षुद्र आत्मा के सम्बन्ध में सोच रहे हो। अपनी निम्नतम जीवाणु की अवस्था से लेकर मनुष्य-शरीर तक इस सारी जीवन-शृंखला पर नजर डालो। यह सब किस ने बनाया? स्वयं तुम्हारी इच्छा-शक्ति ने। आवश्यकता है चारित्र्य की, इच्छाशक्ति को सबल बनाने की।

व्यक्तित्व का विकास

संपूर्ण शिक्षा और समस्त अध्ययन का एकमेव उद्देश्य है इस व्यक्तित्व को गढ़ना। परन्तु हम यह न करके केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहाँ सिर्फ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने का क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास। वह अंतर्मानव — वह व्यक्तित्व, जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू सा कर देता है, शक्ति का एक महान केन्द्र है, और जब यह शक्तिशाली अंतर्मानव तैयार हो जाता है, तो वह जो चाहे कर सकता है।

योग-शास्त्र के दावे के अनुसार व्यक्तित्व के विकास के नियम ढूँढ़ निकाले गये हैं। इन नियमों तथा उपायों की ओर ठीक-ठीक ध्यान देने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और उसे शक्तिशाली बना सकता है। बड़ी-बड़ी व्यावहारिक बातों में यह एक महत्त्व की बात है, और समस्त शिक्षा का यही रहस्य है। इस की उपयोगिता सार्वदेशिक है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे निर्धन, धनवान, व्यापारी या धार्मिक — सभी के जीवन में व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाना ही महत्त्व की एक महत्त्व की बात है। अनेक ऐसे सूक्ष्म नियम हैं, जो भौतिक नियमों से अतीत हैं। मतलब यह कि भौतिक जगत, मानसिक जगत या आध्यात्मिक जगत इस तरह की कोई नितांत स्वतंत्र सत्ताएं नहीं हैं। जो कुछ है, सब एक तत्व है। या हम यों कहेंगे कि यह सब एक ऐसी वस्तु है, जो यहाँ पर मोटी है और जैसे जैसे यह ऊँची होती चढ़ती है, वैसे ही सूक्ष्मतर होती जाती है। सूक्ष्मतम को हम आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। और जो कुछ छोटे परिमाण में इस शरीर में है, वही बड़े पैमाने में विश्व में है।

शिक्षक की पात्रता

बहुधा पूछा जाता है कि हम शिक्षक के चरित्र और व्यक्तित्व पर ध्यान

ही क्यों दें? यह ठीक नहीं है। अपने तईं सत्य को उपलब्ध करने और दूसरों में उस का संचार करने का एकमात्र उपाय है — हृदय और मन की पवित्रता। शिक्षक को पूर्णरूप से शुद्धचित्त होना चाहिए। तभी उस के शब्दों का मूल्य होगा। वास्तव में सच्चे गुरू का काम ही यह है कि वह शिष्य में उस की अपनी आत्म-शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर दे, न कि शिष्य की बुद्धिवृत्ति अथवा किसी अन्य शक्ति को बढ़ाने भर की चेष्टा करे। यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि अच्छे शिक्षक से शिष्य में एक शक्ति आती है। अत: शिक्षक का शुद्ध चित्त होना आवश्यक है।

तीसरी बात उद्देश्य के सम्बन्ध में। शिक्षक को अपने लिए धन, नाम या यश की चाह से शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उन के कार्य तो सारी मानव-जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से प्रेरित हों।

धर्म और सत्य

धर्म तो शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। हाँ, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ धर्म से मेरा मतलब मेरा, तुम्हारा या किसी का धर्ममत नहीं है। यथार्थ सनातन सत्य तत्वों को जनता के समक्ष रखना है। परन्तु शास्त्रों के पठन-पाठन के द्वारा हम धार्मिक नहीं बन सकते। हम भले ही संसार की सारी पुस्तकें पढ़ डालें, पर हो सकता है, हम ईश्वर का एक अक्षर भी न समझें।

जो सत्य है, उस की साहस के साथ घोषणा करो। सभी सत्य सनातन है। सत्य ही आत्मा का स्वभाव है। यह रही सत्य की कसौटी - जो कुछ तुम्हें शरीर से, बुद्धि से या आत्मा से कमजोर बनाये, उसे विष की तरह त्याग दो। उस में जीवन-शक्ति नहीं है। वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, पवित्रता स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अंधकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे। अपने उपनिषदों का आश्रय ग्रहण करो। सत्य जितना महान होता है, उतना ही सहज बोधगम्य होता है - स्वयं अपने अस्तित्व के समान सहज। जैसे अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए और किसी की आवश्यकता नहीं होती, बस वैसा ही।

दुर्बलता और सबलता

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल

ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है, और दुर्बलता ही मृत्यु। वस्तुतः दुर्बल मनुष्य न इह-जीवन के योग्य है, न किसी पर-जीवन के। दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता से ही सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है। लाखों-करोड़ों कीटाणु हमारे आसपास हैं, पर जब तक हम दुर्बल नहीं होते, जब तक शरीर उन के प्रति पूर्वप्रवृत्त नहीं होता, तब तक वे हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। ऐसे करोड़ों दुःख रूपी कीटाणु हमारे आसपास क्यों न मँडराते रहें, पर कुछ चिन्ता न करो। जब तक हमारा मन कमजोर नहीं होता, तब तक उन की क्षमता नहीं कि वे हमारे पास फटकें, कि वे हम पर हमला करें।

बल पुण्य है और दुर्बलता पाप। सभी पापों और सभी बुराइयों के लिए एक ही शब्द पर्याप्त है और वह है - 'दुर्बलता'। दुर्बलता ही सारे दुष्कर्मों की प्रेरक-शक्ति है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरे को चोट पहुँचाता है। सब कोई जान जाएं कि वे कौन हैं, दिन और रात वे यही जपें - 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'। माता के दूध के साथ वे इस 'सोऽहम्' - रूपी शक्ति की भावना को भी पी ले।

शारीरिक दुर्बलता ही हमारे दुखों के कम से कम एक-तृतीयांश का कारण है। हम आलसी हैं, हम मिल कर काम नहीं करते। केवल मुख से कह देना और आचरण में न लाना - यह हमारा स्वभाव ही बन गया है। कारण क्या है? - शारीरिक दुर्बलता। इस प्रकार के दुर्बल मस्तिष्क से कोई काम नहीं हो सकता। हमें उसे सबल बनाना होगा। सर्वप्रथम हमारे नवयुवकों को बलवान बनाना चाहिए। धर्म पीछे आ जाएगा।

मेरे नवयुवक मित्रो! बलवान बनो। तुम को मेरी यही सलाह है। गीता के अभ्यास की अपेक्षा फुटबॉल खेलने के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक निकट पँहुच जाओगे। तुम्हारी कलाई और भुजाएं अधिक मजबूत होने पर तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझोगे। तुम्हारे रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ने पर तुम श्रीकृष्ण की महान प्रतिभा और अपार शक्ति को अधिक अच्छी तरह समझने लगोगे। तुम जब अपने पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े होगे और तुम को जब प्रतीत होगा कि हम भी मनुष्य हैं, तब तुम उपनिषदों को और भी अच्छी तरह समझोगे और आत्मा की महिमा को जान सकोगे।

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे 'बल' की महिमा बता रहा है। संसार में

यही एक साहित्य है, जिस में तुम्हें 'अभी:' (निर्भय) शब्द का प्रयोग बारंबार दिखाई देगा। हमें दुर्बल करने के लिए हजारों विषय हैं, किस्से-कहानियाँ भी बहुत हैं। किन्तु तुम से बारंबार कहता हूँ कि हम को शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए। और उपनिषद शक्ति की विशाल खान हैं। उन में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं।

भारत की विशेषता

भारत इस विश्व में एक अविच्छिन्न सभ्यता रहा है। मनु, महाभारत का भारत और आज का, दोनों में कोई सूत्र आज भी सतत उपस्थित है। साथ ही, भारत ने बिना किन्हीं देशों, समाजों का उत्पीड़न, दमन किए इस संसार को मूल्यवान शिक्षा दी है। अत: जाने-अनजाने संसार इस देश का सब से ऋणी है।

सभी राष्ट्रों की अपनी विशषता होती है। भारत की विशेषता है — धर्म! सभी चेष्टाएं इसी के लिए, जीवन का उपाय, अन्य विषयों की समझ भी इसी माध्यम से। इस के बिना या इसे गौण समझ कर अन्य क्षेत्रों में 'सफलता' भी इस देश का, इस के लोगों का नाश ही समझो! राष्ट्रीय जीवन का मूल यहाँ धर्म ही है। इस जगत के मानव समुदाय में प्रत्येक जाति का एक विशेष कार्य-झुकाव हुआ करता है। हमारी जाति का: आध्यात्मिक शक्ति का संचय और संसार में समय-समय पर इस का प्रचार करना ही है।

इसीलिए सैकड़ों वर्षों के अत्याचार और हजार वर्षों के विदेशी शासन और अत्याचार के बाद भी यह जाति जीवित है। विदेशी मनीषियों ने भी भारत की वैश्विक देन की महत्ता पहचानी है। जैसे, दार्शनिकों के दार्शनिक कहलाने वाले शॉपेनहावर ने लिखा है कि उन की सभी बातें मूलत: उपनिषदों पर आधारित हैं। मानव जाति पर भारत का प्रभाव केवल सम्मोहन fascination शब्द से ही व्यक्त हो सकता है।

आज विविध वैज्ञानिक आविष्कारों से बलिष्ठ, संगठित, दुर्भेद्य समझे जाने वाले धर्म-विश्वासों की जड़ें हिल रही हैं। परन्तु भारत का दर्शन, धर्म-जीवन यथावत प्रमाणिक है, क्योंकि यह किन्हीं काल्पनिक या जड़ विश्वासों, फेथ, पर नहीं, अपितु सर्वोच्च दार्शनिक सिद्धांतों से शाश्वत सिद्ध है।

वे सिद्धांत हैं: 1. असीम, अनन्त जगत का एकत्व; 2. निर्गुण ब्रह्मवाद; 3. जीवात्मा का अनन्त स्वरूप और उस का विभिन्न जीव-शरीरों में अविच्छेद्य

संक्रमणरूपी अपूर्व तत्व; तथा 4. ब्रह्मांड का अनन्तत्व। यह किसी के भी परखने के लिए खुला है कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों से इन की कोई क्षति नहीं, अपितु कुछ पुष्टि ही हुई है।

अत: भारतीय जनगण की चेतना के प्रति यह समझ अनुपयुक्त है कि उस की स्थूल-बुद्धि है, वह अज्ञानी है, आदि। वास्तव में, यह अपनी विशेषता के कारण ही अनावश्यक चीजों के प्रति उदासीन रहता है। क्या महत्त्वपूर्ण है, इस की उसे अपनी समझ है। भारत का स्वर है: त्याग। जो नाना मत-मतांतरों के विविध सुरो में गूँजते रहकर यहाँ गगन में सब से प्रधान सुर मान कर भैरव राग के सप्तम स्वर में रहा है। यहाँ सभी शास्त्रों का मूल-मंत्र है, 'विषयान् विषवत् त्यज'।

यह सत्य है कि हमें पाश्चात्य देशों से कुछ बातें सीखनी पड़ेगी, जैसे भौतिक विज्ञान, दल संगठन, थोड़े यत्न से अधिक लाभ उठाने की व्यवस्था, आदि। पर उस संदर्भ में केवल भोग और ऐहिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मान लेना हानिकर मिथ्या-वाद है, और हमारे देश के लिए विनाशकारी है। जो दोष हमारे समाज में वर्तमान हैं, वे सब समय-समय पर अन्य मत-विचारों के प्रभाव से भी बने। भारत के पतन का एक और प्रधान कारण यह भी है कि हम लोगों ने बाहर जाकर दूसरे राष्ट्रों से अपनी तुलना नहीं की।

भारत का धर्म

भारत के बाहर हमारे धर्म का जो प्रभाव पड़ता रहा है, वह इस धर्म के मूल तत्वों का है। उन मूल तत्वों पर ही भारतीय धर्म की अट्टालिका खड़ी है। उस की भिन्न-भिन्न शाखाएं-प्रशाखाएं, सैकड़ों सदियों में समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उस में लिपटे गौण विषय, विभिन्न प्रथाएं, देशाचार, समाज कल्याण विषयक छोटे-मोटे विचार — यह सब धर्म नहीं हैं।

हमारे शास्त्रों में दो कोटि के सत्य हैं। एक, सदा प्रतिष्ठित, जैसे मनुष्य का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप, ईश्वर के साथ जीवात्मा का संबंध, ईश्वर का स्वरूप, पूर्णत्व पर प्रतिष्ठित चिरन्तन सत्यों का उल्लेख, आदि — ये श्रुति हैं। वेद दो भागों में विभक्त हैं - कर्मकांड और ज्ञानकांड। ज्ञानकांड में आध्यात्मिक उपदेश हैं जिन्हें उपनिषद या वेदान्त नाम से जाना जाता है। कर्मकांड में याग-यज्ञ, अनुष्ठान-पद्धतियाँ हैं जिन का अधिकांश आजकल प्रचलित नहीं है। दूसरे, गौण

विषय, जिन में दैनिक जीवन के कार्य होते हैं — वे *पुराणों* और *स्मृतियों* के अंतर्गत हैं।

हमारे धर्म और दर्शन के संबंध में एक बहुप्रचलित उक्ति है, 'एकम सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. 1/ 164/46) की विशिष्ट व्याख्या। किन्तु यह जगत के अस्तित्व मात्र पर, मूल शक्तियों, आदि के लिए निरूपित हुई थी। न कि केवल मत-मतवादों के संदेशों को कथित रूप से समान बताने के लिए। इस से कई बार अनर्थ किया जाता रहता है। इस के प्रति सावधान रहना चाहिए।

संसार में धर्म संबंधी एकमतता कभी व्यक्ति-विशेष निरूपित मतों पर नहीं हो सकती, अपितु सनातन सत्य सिद्धांतों पर ही। वैज्ञानिक, तथा विवेकपूर्ण परीक्षण की कसौटी पर केवल वेदान्त को ही सार्वजनीन चिंतन कहा जा सकता है। अन्य किसी को नहीं। वेदान्त और विकासमान आधुनिक भौतिक विज्ञान एक जैसे निष्कर्षों पर आते हैं। यह नियमित रूप से हो रहा है, और अनेक वैज्ञानिकों ने इसे रेखांकित किया है।

ईश्वरीय तत्व का पूर्ण विकास केवल भारत में ही हुआ। हमारा धर्म पार्थिवता पर आश्रित नहीं है। न ही किसी व्यक्ति, महापुरुष विशेष, आदि पर।

उपनिषद भय का धर्म नहीं है, वह ज्ञान और प्रेम का धर्म है। उस का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का संदेश देता है। सनातन तत्व पर सत्यनिष्ठा एवं इष्ट निष्ठा, यही मनुष्य की अभीप्सा, विभिन्न प्रवृत्ति के लोगों के संतोष के अनुसार सत्य-मार्ग पर रहने का उपाय है। बौद्ध धर्म का सार-भार भी उपनिषदों से ही लिया गया है। बौद्ध धर्म से जुड़ा माना जाने वाला आचार-शास्त्र किसी न किसी उपनिषद में ज्यों का त्यों विद्यमान है। जैन-धर्म के भी उत्तमोत्तम सिद्धांत उस में वर्तमान हैं।

संसार एवं मानवजाति

संसार को भारतीय आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता है। एक दृष्टि से, अभी तक सभ्यता का आरंभ भी नहीं हुआ है। 99.9 % लोग प्राय: जंगली अवस्था में हैं। संसार में भारी धार्मिक असहिष्णुता है, केवल भारत में थोड़ा-बहुत सहिष्णु भाव आज भी है। विदेशों में घोर धर्म-द्वेष है। संसार को भारत से दूसरों के धर्मों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं, *सहानुभूति* रखने की भी शिक्षा ग्रहण करनी होगी।

निस्संदेह, संसार में विभिन्नताएं बनी रहेंगी। विचारों का पारस्परिक संघर्ष

और विभिन्नता ही ज्ञान का प्रकाश और गति का कारण है। यह सब रहेंगे, पर इसी के लिए दूसरे को घृणा से देखें अथवा लड़ें, यह आवश्यक नहीं है। यह शिक्षा संसार को भारत ही दे सकता है। इसलिए नहीं कि यह हमारे शास्त्रों में लिखा है, वरन हमारे साहित्य का प्रत्येक विभाग और राष्ट्रीय जीवन इस से ओत-प्रोत है। दैनिक जीवन में इस का अनुष्ठान होता है। अभ्यास होता है। इसीलिए, 'एकम् सद्विप्रा बहुधा...' की वास्तविक और आवश्यक सीख संसार को केवल भारत से ही मिल सकती है।

यही नहीं, यह समान्य शिक्षा भर है। भारत इस से भी विशेष, ऊँची शिक्षाएं संसार को दे सकता है। पर वे केवल पण्डितों के योग्य हैं।

पात्रता का महत्त्व

संबंधित व्यक्ति या समूह, आदि का स्वभाव, झुकाव, योग्यता, रुचि, स्थिति, आदि का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। तभी कोई विचार या सीख कारगर होती है। अधिकारी का विचार न करके सब के लिए समान व्यवस्था देना एक भ्रम है। यह अभारतीय विचार भी है, जिस का हाल में यहाँ प्रवेश हुआ है। सभी के लिए एक ही मार्ग नहीं होता।

जीवन की परवर्ती अवस्था में त्याग, वानप्रस्थ सहज है। अपितु एक अनिवार्य हिन्दू निर्देश है। किन्तु बच्चों को त्याग की शिक्षा नहीं दी जा सकती। वह पैदा होते ही सुखस्वपन देखने लगता है। सामान्य लोगों के लिए संसार के भोगों का आनन्द लेकर ही अंत में उस का त्याग करना पड़ेगा। यही हिन्दू आदर्श है। बालकवत् अज्ञानी लोगों को संसार की भंगुरता, असारता समझने के लिए उन्हें कुछ भोग भोगना पड़ेगा। तभी वे वैराग्य धारण करने में समर्थ होंगे।

पहले अतीत में, कभी यहाँ प्रत्येक मनुष्य को सन्यासी के नियमों में आबद्ध करने की चेष्टा की गई थी। वह भारी भूल हुई। फिर, समय के साथ एक और अनुपयुक्त परंपरा बनी। जिस से सामान्य निर्धन लोगों के जीवन को इतने कड़े धार्मिक नैतिक बंधनों में जकड़ दिया गया है जिन से उन का कोई लाभ नहीं हो सकता।

सामाजिक उन्नति का मार्ग

मैं सुधार नहीं चाहता। मेरा आदर्श है: राष्ट्रीय मार्ग पर समाज की उन्नति,

विस्तृति और विकास। सुधार नहीं, स्वाभाविक उन्नति, समाज के अपने स्वभाव के अनुसार। इस के लिए हमारी एकमात्र सम्मिलन भूमि है — हमारी पवित्र परंपरा, हमारा धर्म। उसी पर हमें संगठन करना होगा। भारत के भविष्य-संगठन की पहली शर्त यही है। राजनीतिक, सामाजिक उन्नति भी आवश्यक है, पर गौण हैं।

सामाजिक सुधारों, व्याख्यानों, निन्दा से हिन्दू जाति और सभ्यता का कोई वास्तविक उपकार नहीं हुआ। कारण ? अधिकांश सुधारकों द्वारा की जाती भर्त्सना की प्रवृत्ति ही इस का कारण है। हमारे अधिकांश समाज-सुधार आंदोलन पाश्चात्य कार्य-प्रणाली के विवेकहीन अनुकरण मात्र हैं। इस से हमारा उपकार संभव नहीं है।

हमारी मातृभूमि का पुनरुत्थान अद्वैतवाद को व्यावहारिक और कारगर तरीके से कार्यरूप में परिणत किए बिना नहीं हो सकता। हमें *शक्ति* की आवश्यकता है। वैष्णवी कोमलता से मृतप्राय हो गए हैं हम।

हमलोग शक्तिहीन हो गए हैं। इसीलिए गुप्तविद्या और रहस्यविद्या — इन रोमांचक वस्तुओं ने धीरे-धीरे हम में घर कर लिया है। भले ही उन में अनेक सत्य हो, पर उन्होंने हमें लगभग नष्ट कर डाला है। अपने स्नायु बलवान बनाओ।

भारत में पाश्चात्य विचारों से अनुप्राणित लोगों के यहाँ उदाहरण अधिकतर असफलता के हैं। विलायती रंग में रंगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदण्डविहीन होता है। यूरोपीय सभ्यता की तुलना में वर्तमान अज्ञ, अपक्व हिन्दू समाज भी बेहतर है। भारतीय हिन्दुओं के सामने विश्व की कुछ अन्य जातियाँ दुधमुँहे बच्चे समान है। इतिहास और भविष्य के लक्षणों से आभास मिलता है कि अन्त में उन्हीं की विजय होगी जो बहुत कम द्रव्यों पर निर्भर हो जीवन व्यतीत करने और अच्छी तरह आत्मसंयम का का अभ्यास करने की चेष्ट करते हैं। जो भोग-विलास और ऐश्वर्य के उपासक हैं, वे वर्तमान में कितने ही बलशाली क्यों न हों, अन्त में विनष्ट होंगे, लुप्त हो जाएंगे। पाश्चात्य देशों के लोग चेष्टारत हैं कि मनुष्य अधिकाधिक कितना विभव संग्रह कर सकता है, और यहाँ हम चेष्टा करते हैं कि कम से कम कितने में हमारा काम चल सकता है। यद्यपि, पाश्चात्य देशों में भी संसार से विरक्ति भाव फैलना प्रारंभ हो गया है। वहाँ विचारवान, विवेकशील लोग धन और बल की घुड़दौड़ को मिथ्या समझने लगे हैं।

भारत में जाति-भेद विवाद

हमारी जाति और समाज में जो परिवर्तन हुए हैं और होंगे, उन्हें भी हमारे स्मृतिकारों ने हजारों वर्ष पहले जान लिया था। वे भी जातिभेद तोड़ने वाले थे, पर आजकल की तरह नहीं। आज चल रहे समाज सुधार आंदोलन प्रायः उच्च वर्णों तक सीमित रहे हैं, मुख्यतः ऊपरी दिखावा।

ब्राह्मण ही हमारे समाज के आदर्श थे। साथ ही, शास्त्रों के अनुसार तीनों वर्णों को वेदाध्ययन करने और सन्यासी बनने का अधिकार है। शूद्र कहलाने वाले मेरे पूर्वज लोगों ने सदियों तक आधे भारतवर्ष पर राज्य किया है। उन में बड़े-बड़े ज्ञानी, वैज्ञानिक, पुरातत्ववेत्ता, धर्म-प्रचारक, कवि, आदि भी हुए। यहाँ समाज-सुधारकों ने मुख्यतः समाज की निन्दा की है। फलतः एक कलंक-साहित्य भारी मात्रा में बन गया है, निन्दा और विद्वेष से भरा। उस का वैसा ही उत्तर भी दिया गया है। यह सब व्यर्थ के वाद-विवाद हैं, यह समाज के लिए लाभकारी नहीं सिद्ध हो सके हैं।

जाति-विभाग प्राकृतिक नियम है। यह प्रवृत्ति और निपुणता आधारित कार्य-विभाग है। परन्तु इस में किसी कार्य करने वाले को विशेषाधिकार नहीं रहने चाहिए। सभी को उन्नति के लिए समान सुभीता होना चाहिए।

नीची जातियों को ऊपर उठाने में रामानुज, चैतन्य, कबीर जैसे महापुरुषों को अदभुत सफलता मिली। पर बाद में वह रुक गई, तो इसलिए क्योंकि उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगाई। यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की। ज्ञान का विस्तार तो हुआ, पर उस का संस्कार नहीं बन सका। वह रक्त में व्याप्त नहीं हो गया।

ऐ पिछड़ी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है, और यह लड़ना-झगड़ना और उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इस से कोई उपकार न होगा, इस से और लड़ाई-झगड़े बढ़ेंगे, और यह जाति, दुर्भाग्यवश पहले ही से जिस के टुकड़े-टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती जाएगी। जातियों में समता लाने के लिए एक मात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि तुम यह कर सको तो जो कुछ तुम चाहते हो, वह तुम्हें मिल जाएगा।

नित्य-स्मरणीय विचार

अज्ञान ही सभी दु:खों का कारण है। मेरी योजना है प्राचीन महान आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण करना। उन की प्रणाली से कार्य करना। वे सब महान समाज-संस्थापक थे। बल, पवित्रता और जीवनशक्ति के आधार थे। आज परिस्थितिनुसार कुछ परिवर्तन करना होगा, पर भारत के लिए मूल मार्ग वही है।

हमारे देश में शिक्षा जनसाधारण की भाषा में होनी चाहिए। पर साथ ही संस्कृत की शिक्षा भी अवश्य होनी चाहिए। इस के शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त होता है।

इच्छा-शक्ति ससार में सब से बलवती है, क्योंकि यह साक्षात् भगवान से आती है। मनुष्य को हीन बताने की आदत से ही वे पशुत्व को प्राप्त होते रहे हैं। उन्हें आत्मतत्व के विषय में सुनने का मौका नहीं दिया गया। उन्हें आत्मतत्व सुनने दो। अपने में विश्वास करने दो। अपने पर विश्वास करने वाली जातियाँ ही संसार में सामर्थ्यवान होती हैं। अंग्रेजों से तुम्हारा अंतर यही है। हम अंग्रेजों से सहस्त्र-गुणे कम आत्मश्रद्धा रखते हैं।

अपने बल पर खड़े रहिए — चाहे जीवित रहिए या मरिए। दुर्बलता सब से बड़ा पाप है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करेगा। कोई भी दूसरे और दूसरों की मुक्ति के लिए काम करेगा, यह कहना गलत है, हजार बार गलत है। शक्ति प्राप्त करने का पहला उपाय है — उपनिषदों पर विश्वास करना और यह विश्वास करना कि मैं आत्मा हूँ। किसी बात से न डरो।

सब को उन के भीतर स्थित ब्रह्म-तत्व की शिक्षा दो। तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करने का अधिकार है। सेवा का अवसर मिलने के कारण ही तुम धन्य हो। अपने को बड़ा न समझो।

प्रभुत्व से, सत्ता से किसी का कल्याण करने की धारणा त्याग दो। जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिए जल, मिट्टी, वायु आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर वह पौधा अपनी प्रकृति नियमानुसार आवश्यक पदार्थ ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उन का हित करो।

हम अत्यंत दुर्बल हैं। प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दु:खों का कारण है। आचरण में हमारे पिछड़ने का कारण भी है शारीरिक दौर्बल्य। शारीरिक दुर्बलता ही सब अनिष्टों की जड़ है, और कुछ नहीं।

उन्नततर जीवन के लिए आमूल हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है, केवल इसी से सुधार संभव है। समाज की असदवृत्तियों को सदवृत्तियों में फेरने की शक्ति केवल आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में ही। राजनीति य कड़े कायदे-कानून, आदि में नहीं।

सामाजिक जीवन की उन्नति का मार्ग कोई निर्दिष्ट नहीं कर सकता। उसे सिर्फ जिस इंधन की जरूरत है, बस वह देते जाओ। हमें, विशेषत: भारतीयों को आत्मश्रद्धा की अत्यंत आवश्यकता है। इस के अभाव में ही हम विदेशियों से शासित, पददलित हुए।

सामाजिक दोषों के निराकरण का कार्य उतना वस्तुनिष्ठ नहीं है, जितना आत्मनिष्ठ। आदर्श पर विश्वास करना और तदनुरूप आचरण भी आवश्यक है। हिन्दू जाति की निन्दा न करो। तुम्हारा मुँह बन्द हो और हृदय खुल जाए। बुराइयों के निराकरण की चेष्टा करना ही सही उपाय नहीं है। बुराइयाँ तो नित्य है, केवल उन का प्रकार, स्थान बदलता रहता है। वातरोग की तरह। गेंद की तरह।

निर्देश देकर सुधार करने की अपेक्षा ऐसे लोगों को तैयार करो जो सुधार और उस के लिए कुछ करना चाहते हैं, देश को शिक्षित करो। जब तक सच्ची शिक्षा का यह काम नहीं होता, तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अत:, आग जड़ में लगाओ और क्रमश: उसे ऊपर उठने दो एवं एक अखण्ड समाज संगठित करो।

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो, प्रकाश, सिर्फ प्रकाश लाओ। सब के निकट। शेष सब भगवान पर छोड़ दो।

भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म-प्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उस में आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाए।

धर्म-प्रचार करने के बाद उस के साथ ही लौकिक विद्या और अन्यान्य आवश्यक विद्याएं आप ही आ जाएंगी। पर यदि तुम लौकिक विद्या, बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो, तो भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा। यहाँ तक कि इतना बड़ा बौद्ध धर्म भी कुछ अंशों में इसी कारणवश अपना प्रभाव न जमा सका।

उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं,

उन्हें मठो, वनों, संप्रदायों के सीमित स्थलों से बाहर लाकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि वे देश के कोने-कोने में दावानल की तरह धधक उठें। ''पहले इसे सुनना होगा, फिर मनन करना होगा और उस के बाद निदिध्यासन।'' (बृहदारण्यक उपनिषद)। इन सत्यों को सुनकर दूसरों तक पहँचाने में सहायता करना अद्वितीय कर्म है।

व्यास के अनुसार, कलियुग में दान ही एक मात्र कर्म है। इस में यज्ञ और कठोर तपस्याओं से कोई फल नहीं होता। दान में धर्मदान, अर्थात आध्यात्मिक ज्ञान का दान ही *सर्वश्रेष्ठ* है। दूसरा है विद्यादान, तीसरा प्राणदान और *चौथा* अन्नदान। यह हिन्दू जाति आज भी अपूर्व दानशील है। संसार के सभी राष्ट्रो में अपने शास्त्रों का प्रचार करना ही हमारी सनातन वैदेशिक नीति होनी चाहिए।

इस आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार सारे संसार में करना होगा। यही पहले भी होता रहा है। यह करने वाला मैं पहला सन्यासी नहीं हूँ। भारत सदैव यह करता रहा है। आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार नि:शब्द रूप से उसी तरह अपना प्रभाव डालता है जैसे ओस-बिन्दु गुलाब की कलियों को विकसित कर देता है।

बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता। 1. हृदय की अनुभव शक्ति। यह बुद्धि या विचारशक्ति से बड़ी है। सो, अनुभव करो। 2. स्थिति का अनुभव करके यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित करना, लोगों की भर्त्सना न करके *सहायता का कोई उपाय सोचना,* दु:खों को कम करने के लिए सांत्वना के शब्द खोजना। 3. उस पथ पर सतत बढ़ते रहने की दृढ़ता।

यह तीन बातें करने के बाद तुम्हें पत्रों में लेख छपवाने या व्याख्यान देने फिरते रहने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। स्वयं तुम्हरा मुख दीप्त हो उठेगा, तुम्हारे विचार पर्वत की चट्टानों को भेद कर बाहर निकल आएंगे और संसार में प्रतिध्वनित होते रहेंगे।

आज इस भारतीय समाज के जीवन रूपी जहाज में यदि कुछ छेद भी हो गए हैं, तो भी अपने प्राण देकर भी उसे बंद करने का यत्न करो। किसी हाल में समाज की भर्त्सना न करो। इस समाज के विरुद्ध एक भी कड़ा शब्द न निकालो। और यदि डूबना है, तो आओ, हम सब साथ ही डूबें, पर एक भी कटु शब्द हमारे होठों पर न आने पाए।

व्यावहारिक शिक्षाएं

जैसा ऊपर दी गई उन की बातों से भी स्पष्ट है, स्वामी विवेकानन्द को केवल धर्म-गुरू समझना एक अधूरा सत्य है। स्मरणीय है कि बरसों पश्चिमी देशों में वेदान्त का प्रचार कर, और पर्याप्त यशस्वी होकर जब विवेकानन्द भारत वापस आए, तब देश भर में घूम-घूम कर उन्होंने आम जनों के बीच व्याख्यान दिए। कोलम्बो, मद्रास से ढाका, लाहौर तक उन के व्याख्यान लाखों लोगों ने सुने। उन व्याख्यानों का संग्रह 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक' एक क्लासिक पुस्तक है। हिन्दी में उस का अनुवाद महाप्राण कवि निराला ने किया था। उस का संक्षिप्त संस्करण 'युवको के प्रति' शीर्षक से रामकृष्ण मिशन के प्रकाशनों में है, प्रत्येक भारतीय के लिए पठनीय।

विवेकानन्द ने अपने व्याख्यानों में ऐसी अनेक सीख दी, जो नित्यप्रति जीवन में काम आने वाली है। इस में उन्होंने कोई किताबी या गूढ़-शास्त्रीय बातें नहीं दुहराई हैं, अपितु अधिकांश अपने जीवन के अनुभवों और संसार भर में देखे जन-जीवन से निकाले निष्कर्ष दिये। उन की व्यावहारिकता की कसौटी स्वयं व्यवहार करके देखना ही है। यह बच्चों, युवाओं और सामान्य जनों, सब के लिए उपादेय है।

जैसे, उन्होंने कहा था कि 'किसी कठिनाई से भागो नहीं'। सीधे उस का सामना करो तो कठिनाई हल्की लगने लगेगी। कठिनाई की उपमा उन्होंने किसी जंगली-पशु से दी, और कहा कि आँखें मिलाकर 'उस के सामने खड़े हो जाओ'। फिर देखो कि वह सहमता है। यह वस्तुत: उन के अपने जीवन का ही एक परखा हुआ अनुभव था।

इसी तरह, 'कभी किसी बाहरी मदद की आस न करो। सारी शक्ति तुम्हारे अंदर ही है। सोच कर देखो, तो अब तक जीवन में उसी से कुछ उपलब्ध हुआ है'। फिर यह भी कि कभी भावनाओं में न बहो। कुछ कहने या करने में आवेश में आने, तीव्रता में जाने से शक्ति का व्यर्थ क्षय होता है।

किसी के साथ व्यवहार करते हुए एकत्व की ओर बढ़ने, निकटता लाने वाली बात बोलो, न कि दुराव बढ़ाने वाली। काम करते हुए सभी कर्मफल परमपिता या माँ भगवती को अर्पित करते रहो। यह सोच कर कि यह उन का काम है, जो तुम कर रहे हो। अत: फल भी उन का ही है। इस से कार्य करते हुए शान्ति और शक्ति मिलती रहेगी।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि संसारी लोग ऐसा निष्काम कर्म

कैसे कर सकते हैं? पर विवेकानन्द ने उसे घरेलू सेविका द्वारा घर के बच्चे की देखभाल से समझाया था। कोई अच्छी सेविका अपने मालिक के बच्चे का प्रेम-भाव से लालन-पालन करती है। परन्तु यदि मालिक उसे काम से हटा दे, या वह सेविका ही कहीं कोई अन्य नौकरी स्वीकार ले, तो वह इस की चिन्ता नहीं करती कि अब बच्चे का क्या, कैसे होगा! वह अपनी गठरी लेकर नये काम पर चली जाती है। उसी भाव से संसारी लोगों को हर काम ईश्वर का दिया काम समझ कर करना ही व्यावहारिक है। अर्थात्, सारे काम बिना आसक्ति रखे करते जाना। तब कभी क्लेश न होगा, अथवा नगण्य होगा।

साथ ही, विवेकानन्द के अनुसार, काम करते हुए दुविधा में न पड़ो। अच्छे-बुरे की चिन्ता बिलकुल छोड़ कर कर्म करो। कौन जानता है कि कौन कार्य हम अच्छा कर रहे हैं या बुरा? भलाई-बुराई एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। केवल शुभ तो स्व-विरोधी कल्पना है। हर शुभ के साथ कोई अशुभ भी होता ही है, किसी न किसी के लिए, कहीं न कहीं। इस प्रकार, द्वन्द्व ही जीवन है। बिना विकार के कर्म असंभव है। अत: अपनी ओर से जानते-बूझते अनुचित कर्म न करो। फिर उस के फलाफल की परवाह छोड़ कार्य करो।

आगे वे यह भी कहते हैं कि अपने भी काम, बोली, आचरण को सदैव साक्षी भाव से दूर से देखते रहो। अपने ही काम और व्यवहार, विचार को। उपनिषद में दो पक्षियों की उपमा से यही सीख मिलती है। एक ही वृक्ष की शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फल खा रहा है, दूसरा उसे देख रहा है। कहानी आगे बताती है कि वस्तुत: दोनों एक ही पक्षी है! उस का खाना, और खाते हुए उसे देखना एक ही पक्षी का कार्य है। यह मनुष्य भी कर सकता है, करता भी है। केवल उसे सचेत रूप से अपने व्यवहार का अंग बनाने की आवश्यकता है। तब उसे झूठे अभिमान, आवेश, आसक्ति, क्रोध, दु:ख, आदि से मुक्त रहना सहज हो जाएगा।

विवेकानन्द ने इस पर जोर दिया है कि अनासक्त होकर कार्य करना ही व्यावहारिक है। किसी वस्तु, विचार, व्यक्ति, स्थान, संस्था, आदि से आसक्ति न रखो। अपने मन को स्वाधीन रखो। परिवार और संपत्ति के प्रति भी स्वामी नहीं, अपितु अवधिबद्ध व्यवस्थापक होने जैसा भाव रहना उचित है। क्योंकि यही सत्य भी है। उपनिषद के आरंभ में ही है, 'कस्य स्विद् धनम्?'। धन किस का हुआ है? वैसे ही, घर-परिवार भी 'यावत् पवनो निवसति देहे, तावत् पृच्छति

कुशलं गेहे।' सब कुछ अनित्य है। तुम्हें पता भी नहीं चलता कि कब वृद्ध हो गए!

अत: तुम्हारा वर्तमान घर एक धर्मशाला भर है। परिवार-जन सांयोगिक पड़ोसी हैं, अंतत: जिन से दूर होना अनिवार्य है। अत: उन्हें प्रेम तो करो, उन का ध्यान भी रखो। परन्तु उन्हें 'मेरा' न कहो। स्वामी विवेकानन्द उदाहरण देते हुए कहते हैं कि किसी दूसरे का मूल्यवान सुन्दर चित्र जल जाता है तो तुम्हें कुछ महसूस नहीं होता, धक्का नहीं लगता। क्योंकि वह 'तुम्हारा' नहीं है। अर्थात्, 'मैं एवं मेरा' ही सारे क्लेश की जड़ है। अत: इस भावना से मुक्त रह कर कार्य करते हुए तुम सदैव आनन्दित रह सकते हो। ऐसा करने का उपाय भी वेदान्त बताता है। इसी संदर्भ में गीता में कृष्ण ने कहा है: 'अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते'।

अत: हर लक्ष्य-साधन का सारा रहस्य अभ्यास और अनासक्ति का ध्यान रखने में है। विचारें, अनुभव करें, मनन करें। इस तरह अभ्यास से अहंकार कम होकर नष्ट हो सकता है। नित्य प्रति कुछ देर भी स्वाध्याय, योगाभ्यास, और चिंतन से धीरे-धीरे सच्ची कर्म-भावना विकसित हो जाएगी। जीवन से या संसार से दु:ख कभी खत्म नहीं कर सकते। केवल इधर से उधर विस्थापित भर कर सकते हैं। किन्तु दूसरों की निरंतर भलाई करने से किसी की अपनी आत्म-शुद्धि होती है। इसीलिए उस में वास्तविक सुख है। ऐसा प्रत्येक कार्य हमारे क्षुद्र अहं को प्रतिक्षण घटाता है। अत: किसी की भलाई करने का अहंकार नहीं पालना चाहिए। बस, अपना विहित कर्म कर रहे हैं। किसी का उपकार हो सका तो हमारा सौभाग्य, यह समझने से अहंकार और आसक्ति नहीं होगी।

विवेकानन्द के अनुसार, बिना स्वार्थ किया गया प्रत्येक कार्य हमारे पैरों की एक बेड़ी तोड़ देता है। बिना किसी प्रतिदान की आशा से किया गया प्रत्येक कार्य, शुभ विचार भी संचित होता जाता है। वह हमारी ही एक-एक बेड़ी काटता है और हम अधिकाधिक पवित्र बनते जा सकते हैं। हमारा लक्ष्य मुक्ति है। यही सहज मानवीय स्वभाव है।

मनुष्य की सारी छटपटाहट अंतत: मुक्ति की ओर है। वह जिस अनश्वर, असीम, अनादि से बना है, उसी से पुन: मिल जाने की इच्छा उस के अंतरतम में कहीं सदैव दबी है। विवेकानन्द उसे स्मरण रखने हेतु रानी मदालसा की पौराणिक कथा का स्मरण कराते हैं। वह अपने नवजात शिशु को आरंभ से ही

'शुद्धोसि, बुद्धोसि, निरंजनोसि ...' का गीत गा-गाकर शिक्षा देती थी: कि हे पुत्र, तुम शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हो; तुम्हें क्या चिन्ता, क्या क्लेश! विवेकानन्द ने प्रत्येक बच्चे में उस के जन्म से ही इस गीत का भाव भर देने की सलाह दी है। ताकि वह आजन्म आनंदित एवं बलवान बना रह सके।

वस्तुत: योग-वेदान्त की संपूर्ण शिक्षा मनुष्य को संसार में जीते हुए कर्मयोगी बनाने की है। इस से अधिक व्यावहारिक कोई अन्य शिक्षा असंभव है। किसी भी आयु में, कोई भी रोजगार करते हुए, उस की उपयोगिता यथावत है। क्योंकि वेदान्त कोई 'फेथ' वाला रिलीजन नहीं, जर्मन भाषा वाला 'साइंस' है, अर्थात् प्रमाणिक ज्ञान। जैसे जगत के लिए भौतिकी, रसायन, कृषि, आदि का ज्ञान है, उसी तरह आत्मिक जगत के लिए योग-वेदान्त का ज्ञान है। इसीलिए वह शुद्ध व्यावहारिक शिक्षा का अंग है। स्वामी विवेकानन्द ने इसी शिक्षा से पूरी दुनिया को अनायास विस्मित कर दिया था। हम उसे विस्मृत करके, केवल भौतिक सूचकों पर केंद्रित होकर, या तरह-तरह के अन्य प्रयत्न करते हुए जो भी करते रहे हैं, उस की आमूल समीक्षा करनी चाहिए। तभी विवेकानन्द की शिक्षाओं की महत्ता का भी समुचित मूल्याकंन होगा।

3.
रवीन्द्रनाथ टैगोर

वर्तमान स्थिति

आजकल [यह 1904 ई. का प्रसंग है] हम अंग्रेजी स्कूलों में पढ़कर यह समझने लगे हैं कि किसी भी अवस्था में सरकार की आलोचना करके उस का ध्यान आकर्षित कराना ही जनसाधारण का प्रधान कर्तव्य है। हम यह नहीं देखते कि दूसरों के शरीर में लेप लगाते रहने से अपने रोग की चिकित्सा नहीं होती।... समाज जो कर्म सरकार द्वारा कराता है उस के संबंध में वह अपने-आप को अकर्मण्य बनाता है। ऐसी अकर्मण्यता हमारे देश के लिए कभी स्वभावसिद्ध नहीं रही।...(किंतु) आज हम समाज के सारे कर्तव्य अपनी ही चेष्टा से एक-एक करके समाज से बाहर स्टेट के हाथ सौंपने के लिए उद्यत हैं। यहाँ तक कि अपनी सामाजिक प्रथाओं को भी अंग्रेजी कानून द्वारा हमने अचल रूप से बँधने दिया है - इस बारे में हमने कोई आपत्ति नहीं की। अब तक हिन्दू-समाज के भीतर रह कर कितने ही नए-नए संप्रदायों ने अपने विशेष आचार-विचारों का प्रवर्तन किया है; हिन्दू समाज ने उन्हें कभी तिरस्कृत नहीं किया। लेकिन आज सारे आचार-विचार अंग्रेजी विधान-प्रणाली में आबद्ध हो रहे हैं, उन में जरा भी परिवर्तन करना हो तो अपने-आपको अहिन्दू घोषित करना पड़ता है। इस से हम देख सकते हैं कि जो हमारा मर्मस्थल है, जिस की हमने आंतरिक रूप से इतने दिनों तक रक्षा की है, वही मर्मस्थल आज अनावृत हो गया है और उस पर विकलता आक्रमण कर रही है। वास्तव में यही सब से बड़ी विपत्ति है।

पश्चिम के लोगों ने जिस विद्या के जोर से विश्व पर प्रभुत्व स्थापित किया उस विद्या की निन्दा करने से हमारा दु:ख कम नहीं होता, वरन् त्रुटियाँ बढ़ती जाती हैं।

आज हम अच्छी तरह समझ गए हैं कि अपना शरीर ढाँक कर अलग पड़े रहने को ही आत्मरक्षा नहीं कहते। अपनी अंतर्निहित शक्ति को जाग्रत और संचालित करना ही आत्मरक्षा का प्रकृत उपाय है, यह विधाता का नियम है। जब तक हमारा चित्त जड़ता का त्याग करके अपनी उद्यमशक्ति का प्रयोग नहीं करता तब तक अंग्रेज हमारे मन को पराभूत करते रहेंगे। एक कोने में बैठ कर 'हाय लुट गए' कहते हुए हाहाकार करने से कुछ लाभ नहीं। सभी विषयों में अंग्रेजों का अनुसरण करके, छद्मवेश पहनकर अपनी रक्षा करने का प्रयत्न भी बेकार है। हम असली अंग्रेज नहीं बन सकते, नकली अंग्रेज बनकर हम अंग्रेज को धोखा भी नहीं दे सकते।

हमारी बुद्धि, रुचि, हृदय — सब कुछ आज पानी के भाव से बिक रहा है। इस का प्रतिकार करने करने का एक ही उपाय है; हम वास्तव में जो हैं वही बनें। ज्ञानपूर्वक, सरल और सचल भाव से, संपूर्ण रूप से हम अपने को प्राप्त करें।

नगरवासियों के एक दल को इस सुयोग से शिक्षा मिली, सम्मान और सम्पत्ति मिली। वे कहलाए 'आलोकित', 'एनलाइटेण्ड'। लेकिन उस आलोक के हेतु सारे देश में संपूर्ण ग्रहण लग गया। स्कूल के बेंच पर बैठकर जिन्होंने अंग्रेजी के सबक दुहराए उनकी आँखें शिक्षादीप्ति से चकाचौंध हो गई। उन की दृष्टि में शिक्षित समाज ही पूरा देश है — उन के लिए मोरपंख ही मोर है, हाथीदाँत ही हाथी है। ... यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि देश के प्रांत-प्रांत के बीच विच्छेद की ऐसी घातक छुरी अब तक कभी नहीं चलाई गई थी। इस को आधुनिकता का लक्षण कहकर इस की निन्दा करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि किसी अन्य सभ्य देश में ऐसी हालत नहीं है। दूसरे देशों में आधुनिकता सप्तमी के चन्द्रमा की तरह आलोक और अंधकार के दो खण्डों में विभाजित नहीं हुई है।

किसी दिन बंगाल में नहरें काटने का काम बड़ी निपुणता से किया गया था। वर्तमान काल की असावधानी और मूर्खता के कारण पुरानी नहरें बेकार हो गई हैं। इसी तरह देश में शिक्षा की नहरें भी बंद हो गई हैं और सभी दिशाओं में हीनता और दैन्य का विकास हुआ है। हमारे देश में शिक्षा की एक बड़ी समस्या का समाधान किया गया था, अनुशासन की शिक्षा आनन्द की शिक्षा बनकर देश के हृदय में प्रविष्ट हो गई थी और समस्त समाज की प्राणक्रिया के साथ उस का मिलन हुआ था। देशव्यापी प्राण के इस खाद्य का आज अकाल पड़ा हुआ

है। पूर्वसंचित थोड़ा-बहुत खाद्य बाकी है, तभी हम इस अकाल की विनाशमूर्त्ति को नहीं देखते।

और भी एक दुःख की वेदना से मेरा मन बार-बार काँप उठा है। सन्ध्या हो चली, दिन-भर का काम खत्म करके किसान घर लौट रहे हैं। एक ओर विस्तृत खेत पर अँधेरा छा रहा है, दूसरी ओर बाँस के जंगलों में छोटे-छोटे गाँव हैं — अँधेरे द्वीपों की तरह। वहाँ से ढोल की आवाज आ रही है। एकतारे की संगत पर कीर्तन चल रहा है — एक ही पद को हजारों बार ताल-स्वर से गाया जा रहा है। सुनकर मुझे लगा, यहाँ भी चित्त जलाशय सूख चला है। गर्मी बढ़ रही है, उसे शान्त करने का कोई उपाय नहीं। एक के बाद एक वर्ष गुजरते जाते हैं, इसी दैन्यावस्था में। कैसे उन की रक्षा होगी? यदि बीच-बीच में वे अनुभव न करें कि इस मजदूरी के अलावा मनुष्य के पास 'मन' नाम की भी कोई चीज है जहाँ दुर्भाग्य के दासत्व से ऊपर उठ कर साँस ली जा सकती है! किसी दिन लोगों को इस तरह की तृप्ति दिलाने के लिए सारे समाज ने यत्न किया था; क्योंकि समाज ने इन साधारण लोगों को अपना समझ कर स्वीकार किया था। समाज जानता था कि इन के पतन में देश का पतन है। लेकिन आज उन के मन की भूख मिटाने के लिए कोई मदद नहीं करता। उन के कोई आत्मीय नहीं हैं — बीते हुए युग की तलछट से ही वे बेचारे किसी तरह अपने-आपको सांत्वना देते हैं। कुछ दिनों में यह तलछट भी चुक जाएगी। दिन-भर के श्रम और दुःख के बाद उन के निरानन्द मकानों में दीप नहीं जलेगा। गान का स्वर नहीं सुनाई पड़ेगा। बाँस के जंगल में झिल्ली बोलेंगी, कभी आस-पास की झाड़ियों में सियार बोलेंगे : और उसी समय नगर के शिक्षाभिमानी लोग बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगाएंगे।

हमारे देश में एक ओर सनातन शिक्षा का प्रवाह रुक गया है, जनसाधारण के लिए ज्ञान का अकाल पड़ा है, दूसरी ओर आधुनिक युग की विद्या का आविर्भाव हुआ है। इस विद्या की धारा देश की जनता की ओर नहीं बहती। इस का पानी अलग-अलग जगहों पर जमा हो गया है, पत्थर के कुण्ड बन गए हैं; दूर-दूर से यहाँ आकर पण्डों को दक्षिणा देनी पड़ती है, कितने ही नियम निभाने पड़ते हैं। मन्दाकिनी शिवजी की जटाओं से नीचे उतरती है, साधारण लोगों के लिए घाट-घाट पर प्रस्तुत होती है, कोई भी अपने घट में उस का प्रसाद भर सकता है। लेकिन हमारे देश की आधुनिक विद्या वैसी नहीं, उस का केवल विशिष्ट

रूप है, साधारण रूप नहीं। इसलिए अंग्रेजी सीखकर जिन्होंने वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उन के मन का सर्वसाधारण के साथ सामञ्जस्य नहीं है। देश में सब से तीव्र जाति-भेद इसी क्षेत्र में है, यहाँ श्रेणी-श्रेणी में अस्पृश्यता है।

अंग्रेजी भाषा में अवगुण्ठित विद्या हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल पाती। इसीलिए हम में से अनेक लोग जिस मात्रा में शिक्षा पाते हैं, उस मात्रा में विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन्न है। ... इस विच्छेद के कारण हमारी भाषा और चिन्तन स्कूल के बच्चों की तरह हो गए हैं। नोट-बुक के शासन से वे मुक्त नहीं हैं। हमारी विचार-बुद्धि में साहस का अभाव है; पुस्तकों में दिए हुए दृष्टांतों के सहारे वह डरते-डरते पग बढ़ाती है। शिक्षा के साथ देश के चित्त का सहज मिलन नहीं है और इस दिशा में कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया।

जब किसी देश की दुर्गति के दिन आ जाते हैं तब वह मुख्य वस्तु को खो देता है और गौण वस्तुओं के जंजाल में घिर जाता है। पक्षी उड़ जाता है, केवल पिंजड़ा पड़ा रहा जाता है। हमारे देश में यही हुआ है।

इस 'नकल-युग' के आने से पहले हम में एक स्वाभाविक मर्यादा थी। इस मर्यादा से हम निर्धनता में भी संपन्न थे। उस समय मोटा खाने से या मोटा पहनने से हमारा गौरव नष्ट नहीं होता था। कर्ण ने जैसे कवच-कुण्डल के साथ जन्म ग्रहण किया था, वैसे ही हम इस स्वाभाविक मर्यादा को साथ लेकर दुनिया में आते थे। उस कवच ने हमें युग-युग की पराधीनता और दुःख-दारिद्रय में जीवित रखा है, हमारे सम्मान की रक्षा की है। यह इसलिए हुआ कि हमारा सम्मान बाहर से अपहरण किया हुआ धन नहीं, बल्कि हमारी अन्तरात्मा का धन था।

हमें धोखा देकर यह सहजात कवच किस ने छीन लिया? जिस ने भी छीना हो, उस कवच के साथ ही आत्म-रक्षा का उपाय भी हमारे हाथ से जाता रहा।

'मनुष्य' का हम जैसा अर्थ लगाते हैं उसी के अनुसार शिक्षा का प्रवर्त्तन करते हैं, क्योंकि वास्तव में मनुष्य को मनुष्य बनाने का काम ही शिक्षा है।

आजकल हम जिसे एजुकेशन कहते हैं उस का आरंभ शहर में होता है। व्यवसाय और नौकरी उस के पीछे-पीछे आनुषांगिक रूप से चलते हैं। यह विदेशी शिक्षाविधि रेलगाड़ी के डिब्बे में जलने वाले दीप की तरह है — कमरा उज्जवल है, लेकिन जिस प्रदेश से रेल गुजर रही है वह सैकड़ों मीलों तक अंधकार में लुप्त है। कारखाने में बनी गाड़ी ही मानो सत्य है, और प्राण-वेदना से परिपूर्ण समस्त देश अवास्तविक है।

परन्तु किसी विशेष प्रयोजन की दृष्टि से मनुष्य को देखने से काम नहीं चलेगा। यदि हम आम के फल को इस दृष्टि से देखें कि उस से खटाई किस तरह मिल सकती है, तो आम का समग्र रूप हमारे सामने नहीं आता — बल्कि हम उसे कच्चा ही तोड़कर गुठली को नष्ट कर देते हैं। पेड़ को यदि हम केवल ईंधन के रूप में देखें तो उस के फल-फूल-पत्तों में हमें कोई तात्पर्य नहीं दिखाई देगा। इसी तरह यदि मनुष्य को हम राज्य-रक्षा का साधन समझेंगे तो उसे सैनिक बना देंगे। यदि व्यक्ति को जातीय समृद्धि का उपाय मात्र समझेंगे तो उसे वणिक बनाने का प्रयत्न करेंगे। अपने संस्कारों के अनुसार जिस गुण को हम सब से अधिक मूल्य प्रदान करते हैं, उसी के उपकरण के रूप में मनुष्य को देखकर उस गुण से संबंधित प्रयोजन-साधना को ही हम मानव-जीवन की सार्थकता समझने लगते हैं। यह दृष्टिकोण बिलकुल ही बेकार हो, यह बात नहीं। लेकिन अन्त में इस से सामञ्जस्य नष्ट होकर अहित ही हमारे पल्ले पड़ता है। जिसे हम तारा समझ कर आकाश में उड़ाते हैं वह कुछ देर तक तारे की तरह चमकने के बाद जलकर खाक हो जाता है और जमीन पर आ गिरता है। और फिर उस का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

भारत ने जब आचार-बंधन से ऐक्य स्थापित करना चाहा, समाज निर्जीव बन गया; और यूरोप में व्यवहार-बंधन के ऐक्य से समाज विश्लिष्ट हो गया। आचार और व्यवहार दोनों ही बाहर की चीजें हैं, न कि आंतरिक तत्व, उन का सब कारोबार आत्मा को अलग रखकर होता है।

यूरोप में सभ्यता को 'प्रोग्रेस' या 'प्रगति' कहा जाता है। लेकिन 'प्रोग्रेस' शब्द का अर्थ हो गया है निरन्तर चलते रहना और कभी घर न पहुँचना। इसीलिए जीवन को असमाप्त अवस्था में खत्म कर देना, चलते-चलते सहसा रुक जाना, यूरोप की जीवन-यात्रा बन गई है। 'नॉट दि गेट, बट् दि चेज': शिकार पाना नहीं, शिकार के पीछे दौड़ते रहना, इसी में यूरोप को चरम आनन्द मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में भारतवर्ष का कहना है कि एक स्थान ऐसा भी है जहाँ स्वयं 'पाने' की समाप्ति है। वहीं अगर लक्ष्य को स्थापित किया गया तो कर्म का अन्त होगा और हमें छुट्टी मिलेगी।

भारत ने मानव-जीवन का विभाजन इस तरह किया था कि कर्म बीच में हो और मुक्ति अन्त में। दिन में चार स्वाभाविक भाग हैं- सवेरा, दोपहर, संध्या और रात। वैसे ही भारत ने किसी समय जीवन को चार 'आश्रमों' में बाँट दिया

था। ये विभाग स्वाभाविक थे। जैसे दिन में रोशनी और गर्मी धीरे-धीरे बढ़ती है और धीरे-धीरे ही घटती है वैसे ही आदमी की इन्द्रिय-शक्ति बढ़ती और घटती है। इस स्वाभाविक क्रम पर अवलंबन करके भारत ने जीवन का तात्पर्य आदि से अन्त तक अखण्ड रूप से वहन किया है। पहले शिक्षा, फिर दुनियादारी, फिर बन्धनों का ढीला होना, और अन्त में मृत्यु के बीच मुक्ति — ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और प्रवज्या।

इस के विपरीत आधुनिक युग में हमारी भावना ऐसी होती है कि जीवन और मृत्यु परस्पर विरोधी हैं — मानो मृत्यु जीवन का परिणाम नहीं बल्कि उस की शत्रु है। जीवन की प्रत्येक मंजिल में हम मृत्यु से लड़ते हुए आगे बढ़ते हैं। यौवन के दिन बीत जाने पर भी हम यौवन को खींच-तान कर बनाए रखना चाहते हैं।... जो परिणाम अनिवार्य है उसे सहज ही ग्रहण करना हमने नहीं सीखा। इसलिए हम अपने-आप कुछ छोड़ते नहीं, प्रत्येक वस्तु हम से छीन ली जाती है। सत्य को हम अस्वीकार करते हैं, तभी सत्य के हाथों हमारी पराजय होती है।

बच्चों के प्रति अन्याय

हमारे बाल्य-काल को जीवन की खुली हवा पूरी तरह मिलनी चाहिए। जिस के लिए उस की प्यास उत्कट होती है। बाल मन को इस विचार से भरना चाहिए कि वह एक मानवीय जगत में जन्मा है जो उस के चारों ओर के विश्व से सामञ्जस्यपूर्ण है। किन्तु इसी को हमारे सामान्य स्कूल एक घमंडी, कठोर भाव से उपेक्षित करते हैं। वे बच्चों को ईश्वरीय रहस्यों से भरी दुनिया से जबरन खींच लेते हैं, जो व्यक्तित्व के प्रेरक संकेतों से भरी है। अनुशासन की एक कोरी विधि व्यक्ति की विशिष्टता को देखने से इन्कार करती है। मानो यह एकरूप परिणाम तैयार करने वाला कोई कारखाना है। शिक्षा की धारा बनाने में यह मानो किसी काल्पनिक औसत सीधी रेखा का अनुगमन करती है। किन्तु जीवन की रेखा सीधी नहीं है। यह उस औसत रेखा से जहाँ-तहाँ खिलवाड़ करती चलती है। जिस से स्कूल उस पर नाराज होता है।

इन सब विरूपताओं, बच्चों को होने वाले कष्टों का कारण यह है कि बच्चों को ज्ञान से जोड़ने में मनुष्य की चाह ईश्वर की चाह के विरुद्ध हो जाती है।

बच्चों को भूगोल पढ़ाने के लिए उस से उस की धरती, और व्याकरण

पढ़ने में उस की भाषा छीन ली जाती है। उसे महाकाव्यों और महाकथाओं की भूख है, पर उसे तथ्यों और घटनाओं की सूचियाँ थमा दी जाती हैं।

शिशु मानव समाज में जन्म लेते हैं, किन्तु अज्ञान के अपराध के दंड स्वरूप मानो जीते-जागते ग्रामोफोनों की दुनिया में ठेल दिये जाते हैं। बाल-स्वभाव पीड़ा की पूरी शक्ति से इस विपदा के विरुद्ध प्रतिवाद करता है, किंतु दंड के द्वारा चुप करा दिया जाता है। ... पहले वह संघर्ष करता है, और दु:खपूर्वक रोता है, और फिर धीरे-धीरे भूल जाता है कि ईश्वर की पूरी संसृति उस की विरासत थी; फिर वह इस की खिड़कियाँ बन्द कर देता है, पर्दे खींच लेता है, विविध अर्थहीन चीजों में खो जाता है, और अपने एकत्र संग्रह पर गर्वित होता है जो उसे अपनी पूरी दुनिया और संभवत: इस की आत्मा की भी कीमत पर मिली है।

किन्तु बाल्य-काल ही वह समय है जब हमें अधिक स्वतंत्रता होनी चाहिए - सामाजिक और कार्यगत पारंपरिकता की संकीर्ण सीमाओं की विशेषज्ञता में पड़ने की आवश्यकता से स्वतंत्रता।

यह सत्य है कि व्यावहारिक जगत में जूते पहने जाएंगे, सड़कें पक्की की जाएंगी, कारें उपयोग की जाएंगी। किन्तु शिक्षा काल में क्या बच्चों को यह जानने नहीं दिया जाना चाहिए दुनिया केवल ड्राइंग रूम ही नहीं है, एक प्रकृति नामक चीज भी है जिस के प्रति सुंदरता पूर्वक अपना भाव प्रदर्शित करने लिए उन के पाँव बनाए गए है?

बच्चे जीवन से प्रेम में रहते हैं, वही उन का पहला प्रेम है। इस के रंग, इस की गतियाँ उन्हें उत्सुक आकर्षित करती हैं। और इसी प्रेम का दमन करके हम क्या अपनी बुद्धिमानी पर आश्वस्त हैं? बच्चे कोई जन्मजात बैरागी नहीं होते, कि उन्हें जानकारियाँ प्राप्त करने वाले मठ के अनुशासन में डाल दिया जाए। सब से पहले उन्हें जीवन के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ज्ञान एकत्र करना चाहिए, और तब वे शिक्षा हासिल करने के लिए उसे छोड़ देंगे, और फिर अंतत: वे परिपक्व विवेक के साथ अपने पूर्णतर जीवन के पास वापस लौट आएंगे।

निश्चित रूप से विलासिता की चीजें बच्चों के लिए बोझ हैं। वे दूसरे लोगों की आदतों का बोझा हैं, (किसी प्रतीक-माध्यम से, वायकैरियस, घमंड महसूस करने और सुख उठाने की चाह) जो माता-पिता अपने बच्चों के माध्यम से उठाना चाहते हैं।

जिन के लिए ईश्वर ने माता-पिता के हृदय में स्नेह का संचार किया है, जिन के लिए माता की गोद में कोमलता प्रदान की गई है, जो आकार में छोटे होते हुए भी घर-भर की सारी जगह को अपने खेल के लिए यथेष्ट नहीं समझते, ऐसे बालकों को अपना बचपन कहाँ काटना पड़ता है? विदेशी भाषा के व्याकरण और शब्दकोश में - जिस में जीवन नहीं, आनन्द नहीं, अवकाश या नवीनता नहीं, जहाँ हिलने-डुलने का स्थान नहीं, ऐसी शिक्षा की शुष्क, कठोर संकीर्णता में। इस से क्या बालक कभी मानसिक शक्ति, चित्त का प्रसार या चरित्र की बलिष्ठता का लाभ कर सकता है? क्या वह फीका, रक्तहीन, दुबला और अविकसित नहीं रहेगा? क्या वह बड़ा होने पर अपनी बुद्धि से कुछ निर्माण कर सकेगा, अपनी शक्ति से बाधाओं का अतिक्रमण कर सकेगा, अपने स्वाभाविक तेज से मस्तक उन्नत कर सकेगा? क्या वह केवल रटना, नकल करना और दूसरों की गुलामी करना ही नहीं सीखेगा?

चिंतन-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों जीवन यात्रा संपन्न करने के लिए अत्यावश्यक है, इस में संदेह नहीं। यदि हमें वास्तव में मनुष्य होना है तो इन दोनों को जीवन में स्थान देना होगा। इसलिए यदि बाल्य-काल से ही चिंतन और कल्पना पर ध्यान न दिया जाए तो काम पड़ने पर उन का अभाव दु:खदाई सिद्ध होगा, यह अनुभव बहुत प्राचीन है। लेकिन हमारी वर्तमान शिक्षा में इन दोनों के लिए रास्ता बंद है।

भाषा का महत्त्व

हमारे बाल्य-काल की शिक्षा में भाषा के साथ भाव नहीं होता, और जब हम बड़े होते हैं तो परिस्थिति इस के ठीक विपरीत हो जाती है - अब भाव होते हैं, लेकिन उपयुक्त भाषा नहीं होती।

हम चाहे जिस दिशा से देखें तो, हमारी भाषा, जीवन, और विचारों का सामञ्जस्य दूर हो गया है। हमारा व्यक्तित्व विच्छिन्न होकर निष्फल हो रहा है; वह अपने बीच कोई अखंड एक्य उपलब्ध करके बलिष्ठ नहीं हो पाता। जिन चीजों की उसे जरूरत है वे उस के पास नहीं हैं।

हम विधाता से यही वर माँगते हैं - हमें क्षुधा के साथ अन्न, शीत के साथ वस्त्र, भाव के साथ भाषा और शिक्षा के साथ जीवन प्राप्त करने दो।

हमारे पास पानी भी है और प्यास भी है। देखकर पृथ्वी के लोग हँसते

हैं। आँखों से आँसू टपकते हैं, लेकिन हम प्यास नहीं बुझा पाते। एक तो अंग्रेजी विदेशी भाषा है। शब्द-विन्यास और पद-विन्यास की दृष्टि से हमारी भाषा के साथ उस का कोई सामञ्जस्य नहीं। तिस पर भावपक्ष और विषय-प्रसंग भी विदेशी होते हैं। शुरू से आखिर तक सभी अपरिचित चीजें हैं, इसलिए धारणा उत्पन्न होने से पहले ही हम उसे रटना आरंभ कर देते हैं। फल वही होता है जो बिना चबाया अन्न निगलने से होता है।

बच्चे जब विदेशी भाषा में वह सब पढ़ते हैं तब उन के मन में कोई स्मृति जागृत नहीं होती, उन के सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं होता। अंध भाव से उन का मन अर्थ को टटोलता रहता है।

हमें दीर्घ काल तक केवल भाषा-शिक्षा में उलझे रहना पड़ता है। अंग्रेजी हमारे लिए इतनी परकीय है, और हमारे शिक्षकों का उस पर प्रभुत्व इतना कम है कि भाषा के साथ भाव का प्रवेश हमारे मन में नहीं हो पाता। इसलिए अंग्रेजी के भाव से परिचित होने में ही हमें बहुत समय लगता है और तब तक हमारी चिंतन-शक्ति किसी उपयुक्त काम के अभाव में निष्चेष्ट पड़ी रहती है।

काम चलाऊ अंग्रेजी सीख कर ही, स्नातक कक्षा में बड़ी-बड़ी पुस्तकों और गंभीर चिन्तनीय विषयों का हमें सामना करना होता है। उन्हें अच्छी तरह आत्मसात करने के लिए हमारे पास न समय होता है, न शक्ति। सब को मिला कर, खिचड़ी पका कर, हम किसी तरह निगल जाते हैं।

जीवन का एक तिहाई हिस्सा हम शिक्षा में बिताते हैं वह यदि हमारे संपूर्ण जीवन में असंलग्न हो जाए, और किसी अन्य शिक्षा के प्राप्त करने का कोई अवसर हमें न मिले, तो अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने का कोई साधन हमारे पास नहीं रह जाता। इसलिए शिक्षा और जीवन में सामञ्जस्य निर्माण करने की समस्या आज हमारे लिए सर्वप्रधान विचारणीय विषय है।

यह सामञ्जस्य किस शक्ति के द्वारा स्थापित हो सकेगा? अपनी भाषा और अपने साहित्य के ही द्वारा।

अंग्रेजी हमारी प्रयोजन-सिद्धि की भाषा है, इसीलिए हमारी शिक्षा इस विदेशी भाषा के प्रति हमारे लोभ पर केंद्रित है। यह प्रेमी की प्रीति नहीं, कृपण की आसक्ति है। हम जब अंग्रेजी साहित्य पढ़ते हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य होता है अंग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना - अर्थात् हमारा मन फूल के कीड़े की तरह है, मधुकर की तरह नहीं। भीख माँगकर जो दान प्राप्त करते हैं उस की

सूची बना कर हम इम्तिहान में बैठते हैं। यह परीक्षा परिमाणात्मक होती है, गुणात्मक नहीं।

अंग्रेजी हमारे लिए काम-काज की भाषा है। लेकिन भाव की भाषा नहीं है। अंग्रेजी भाषा के साथ हम ऐसे घनिष्ठ आत्मीय भाव से परिचित नहीं हो सकते जिस से साहित्य का स्वाधीन भावोच्छवास सहज ही प्रकाशित हो सके। अंग्रेजी भाषा पर उस का कितना चाहे जितना प्रभुत्व हो, कोई भी भारतीय उस भाषा में अपना भाव जीवन्त रूप में व्यक्त नहीं कर पाता। जो विशेष माधुर्य, जो विशेष स्मृति-संपदा हमें आत्म-प्रकाशन के लिए उत्तेजित करती है, जिन संस्कारों से हमारे मन का विशेष रूप से गठन हुआ है, वे सब विदेशी भाषा में कदापि यथार्थ मुक्ति लाभ नहीं कर सकते।

पर अपनी भाषा है कहाँ? इतने दीर्घ समय तक जिस की अवहेलना की गई है वह क्या अपना सारा सौंदर्य और गौरव लेकर शिक्षाभिमानी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण कर देगी? हे सुशिक्षित, हे आर्य, तुम क्या इस सुकुमारी, सुकोमला यौवना भाषा की यथार्थ मर्यादा जानते हो? इस के कटाक्ष में जो उज्जवल हास्य है, जो अश्रुम्लान करुणा है, जो प्रखर तेज है, जो स्नेह-प्रीति-भक्ति है उस का गंभीर मर्म क्या तुम ने पहचाना है, अपने हृदय में ग्रहण किया है?

रचनात्मक साहित्य का स्थान

यदि बच्चों को मनुष्य बनाना है तो यह क्रिया बाल्य-काल से ही आरंभ हो जानी चाहिए, वरना वे सदा बच्चे ही बने रहेंगे। शैशव से ही केवल स्मरण-शक्ति पर बल न दे कर उस के साथ-ही-साथ चिन्तन-शक्ति और कल्पना-शक्ति को स्वाधीन रूप से परिचालित करने का भी अवसर उन्हें दिया जाना चाहिए।

मिट्टी जितनी सरस होती है उतनी ही फसल अच्छी होती है। एक ऐसा समय आता है जब खेत के लिए वृष्टि की सब से अधिक जरूरत है। वह समय यदि निकल जाए तो बाद में हजारों बार वर्षा होने से भी उतना लाभ नहीं हो सकता। वयोविकास में भी एक ऐसा विशिष्ट समय आता है जब सजग भावना और नवीन कल्पना जीवन की परिणति के लिए, सरसता साधना के लिए, अत्यंत आवश्यक होती है। इसी समय यदि साहित्य के आकाश से जोरदार बारिश हो तो फिर क्या कहना - 'धन्य राजा, पुष्य देश'। अंधकार की मातृभूमि को छोड़कर

नवोद्भिन्न हृदयांकुर विपुल पृथ्वी और अनन्त आकाश की ओर सिर उठा रहा है; प्रच्छन्न जन्मगृह के द्वार पर आकर शिशु मन बाह्य संसार से नूतन परिचय प्राप्त कर रहा है; नवीन विस्मय, नवीन प्रीति और कौतूहल का आविर्भाव हो रहा है। ऐसे समय यदि भाव का समीर उसे मिले, आनन्दलोक से प्रकाश और आशीर्वाद की धारा आकर उसे स्पर्श करे, तभी उस का जीवन सफल, सरस और परिणत होगा। लेकिन यदि इस समय शुष्क धूल और तपी हुई बालू – नीरस व्याकरण और विदेशी शब्दकोष – आच्छन्न करें, तो बाद में चाहे मूसलाधार वर्षा क्यों न हो, योरोपीय साहित्य के जीवन्त सत्य, विचित्र कल्पनाएं और उन्नत भाव चाहे जितनी मात्रा में उस के दाएं-बाएं फैला दिए जाएं, उस की शिक्षा सफल नहीं होगी। साहित्य की अंतर्निहित जीवन-शक्ति उस के प्राणों में सहज भाव से प्रकाशित नहीं होगी।

हमारी नीरस शिक्षा में जीवन का यही बहुमूल्य समय व्यर्थ हो जाता है। हम बाल्यावस्था से कैशोर्य में और कैशोर्य से यौवन में प्रवेश करते हैं शुष्क ज्ञान का बोझ लेकर। सरस्वती के साम्राज्य में हम मजदूरी ही करते रहते हैं। हमारी रीढ़ की हड्डी झुक जाती है, मनुष्यत्व का सर्वांगीण विकास नहीं होता। इस तरह बीस-बाईस वर्ष की आयु तक हमें जो शिक्षा मिलती है उस का हमारे जीवन से रासायनिक मिश्रण नहीं होता। इस से हमारे मन को एक अजीब आकार मिलता है। शिक्षा से हमें जो विचार और भाव मिलते हैं उन में कुछ को तो लेई से जोड़ कर हम सुरक्षित रखते हैं, और बचे हुए कालक्रम से झड़ जाते हैं। हम भी विलायती विद्या का लेप लगाकर दंभ करते हैं, यद्यपि यथार्थ आंतरिक जीवन के साथ उस का योग बहुत ही कम होता है।

हम भी सस्ते, चमकते हुए, विलायती ज्ञान को लेकर शान दिखाते हैं, विलायती विचारों का असंगत रूप से प्रयोग करते हैं। हम स्वयं यह नहीं समझते कि अनजाने ही हम कैसे अपूर्व प्रहसन का अभिनय कर रहे हैं। यदि कोई हमारे ऊपर हँसता है तो हम फौरन योरोपीय इतिहास से बड़े बड़े उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जिस घर में हमें सदा के लिए रहना है उस का उन्नत चित्र हमारी पाठ्य-पुस्तकों में नहीं है। जिस समाज के बीच हमें अपना जीवन बिताना है उस समाज का कोई उच्च आदर्श हमें शिक्षा-प्रणाली के साहित्य में नहीं मिलता। उस में हम अपने माता-पिता, सुहृद-मित्र, भाई-बहन किसी का प्रत्यक्ष चित्र नहीं देखते।

हमारे दैनिक जीवन के क्रियाकलाप को उस साहित्य में स्थान नहीं मिलता। हमारे आकाश और पृथ्वी, निर्मल प्रभात और सुंदर संध्या, परिपूर्ण खेत और देशलक्ष्मी स्त्रोतस्विनी का संगीत उस साहित्य में ध्वनित नहीं होता। यह सब देखकर हम समझ सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा के साथ हमारे जीवन का निविड़ मिलन होने की कोई संभावना नहीं है। दोनों के बीच एक व्यवधान है।

इसलिए हमें इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि एक ही व्यक्ति एक ओर योरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का पंडित है तो दूसरी ओर सारे कुसंस्कारों का यत्नपूर्वक पोषण करता है। एक ओर स्वाधीनता के उज्जवल आदर्श का प्रचार करता है तो दूसरी ओर अधीनता के शतसहस्त्र तंतुपाश से अपने को और दूसरों को प्रतिक्षण आच्छन्न करता है।

गानहीन ताल की धृष्टता अत्यंत असह्य होती है। एक बार अटलांटिक सागर के उस पार, ईंट-पत्थर के विराट जंगल में बैठकर, मेरा मन प्रतिदिन पीड़ित हुआ। यहां ताल का अंत नहीं, लेकिन सुर कहाँ है? 'और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए' - इन शब्दों में सृष्टि का स्वर नहीं लगता। तभी उस अभ्रभेदी ऐश्वर्य के सामने खड़े होकर धन-मानहीन भारत के एक पुत्र ने धिक्कार के स्वर में कहा: 'ततः किम्!'

मैं रेलवे-टेलीग्राफ, कल-कारखानों को बेकार नहीं मानता। मैं कहता हूँ, इन सब का प्रयोजन है किन्तु इन में वाणी नहीं। विश्व के किसी स्वर में यह अपना स्वर नहीं मिला सकते, हृदय की किसी पुकार का यह उत्तर नहीं दे सकते। मानव-जीवन में जहाँ अभाव है वहीं उपकरण जमा होते हैं, जहाँ पूर्णता है वहाँ मनुष्य का अमृत-रूप व्यक्त होता है। इस अभाव और उपकरण के पक्ष में ईर्ष्या है, द्वेष है, वहाँ दीवार है, पहरेदार है, वहाँ व्यक्ति अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता है और एक दूसरे पर आघात करता है। जीवन के इसी क्षेत्र में संघर्ष है। लेकिन जहाँ अमरत्व है, जहाँ मनुष्य वस्तु को नहीं बल्कि आत्मा को व्यक्त करता है, वहाँ वह दूसरों को अपने पास बुलाता है। वहाँ वितरण से भोज की क्षति नहीं होती। इसलिए जीवन के उसी क्षेत्र में शान्ति है।

जब यूरोप ने विज्ञान की कुंजी से विश्व के रहस्य-निकेतन के द्वार खोलने शुरू किए तब उस ने चारो ओर नियम का ही राज्य देखा। सर्वत्र नियम देखने के अभ्यास से यूरोप यह विश्वास खो बैठा कि नियम के परे भी कुछ है, जिस के साथ हमारे मनुष्यत्व का आंतरिक मिलन है।

सफल होने के अलावा भी मनुष्य कुछ चाहता है।

कल कारखानों को हम आत्मीय नहीं समझ सकते। यदि कारखाने के बाहर कुछ न हो तो हमारी उस आत्मा का क्या होगा जिसे 'आत्मीय' की खोज है? सर्वदा विज्ञान की चर्चा करते-करते पाश्चात्य देश आत्मा को दूर हटाते रहते हैं, और आखिर उन्होंने आत्मा के लिए कोई स्थान बाकी नहीं रखा। जब कि एकांगी आध्यात्मिकता से हम भारतीय लोग दारिद्रय और दुर्बलता के शिकार हुए हैं। लेकिन क्या पश्चिम के लोग उतनी ही एकांगी आधिभौतिकता से ग्रस्त नहीं हैं? एक पाँव से लँगड़ाते हुए क्या वे मनुष्यत्व की सार्थकता तक पँहुच सकते हैं?

यांत्रिकता से जिन का मन पोषित होता है उन का फलभोग अत्यंत तीव्र होता है। जैसे-जैसे लोभ बढ़ता है, मनुष्य दूसरों को अपमानित करने में नहीं हिचकता।

लेकिन लोभ कोई तत्व नहीं है, वासना-मात्र है। सृष्टि करना वासना का काम नहीं है। इसलिए जब फलभोग को किसी सभ्यता में उच्चासन मिलता है तब उस सभ्यता में मानव-मानव का आत्मिक योग विश्लिष्ट हो जाता है। वह सभ्यता चाहे जितनी शक्ति या संपत्ति प्राप्त करे, उस में जीवन की सुविधाओं का जितना विस्तार हो, मनुष्य का आत्मिक सत्य दुर्बल हो जाता है।

एकाकी मनुष्य के जीवन में भयंकर निरर्थकता है। अकेलेपन में ऐक्य नहीं; जब दूसरे हों तभी ऐक्य का प्रश्न उठता है। जो अभागा 'बहु' से विच्छिन्न है वह ऐक्य से भी वंचित है।

इसलिए फललोभ के कारण जब जीवन में व्यवसायिकता प्रबल हो उठती है, मानव-समाज एक प्रकांड 'प्लैन' बन जाता है, उस में चित्र का कोई गुण बाकी नहीं रहता। फिर मानव के पारस्परिक आत्मीय संबंध क्षीण हो जाते हैं।

साहित्य-शिक्षा का एक आनुषंगिक लक्ष्य यह भी होता है कि छात्रों में रचना शक्ति का विकास हो। साहित्य-शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा-तत्व सिखाना नहीं, साहित्य के जटिल प्रश्नों का विवेचन नहीं, बल्कि रस का परिचय देना और रचना में भाषा का व्यवहार समझाना है। आर्ट-शिक्षा का कार्य आर्कियोलॉजी - आइकोनोग्राफी नहीं, आर्ट के आंतरिक स्वरूप की व्याख्या करना है। सप्ताह में एक दिन (लंदन यूनिवर्सिटी में साहित्य के मेरे अध्यापक) हेनरी मॉर्ले अपने छात्रों की रचनाओं की समीक्षा करते - पदच्छेद, पाराग्राफ विभाग, शब्द-प्रयोग की सूक्ष्म त्रुटियाँ और सुंदरता, इन सब की आलोचना करते। साहित्य और भाषा का स्वरूप-बोध - उस के 'टेकनीक' का परिचय और विवेचन - साहित्य शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है।

शिक्षा का आदर्श व्यावहारिक स्वरूप

बाह्य-शक्ति और आन्तरिक शक्ति के सामञ्जस्य को प्रत्येक जीवधारी का मुख्य लक्षण माना जाता है। पेड़-पौधों में इस सामञ्जस्य का रूप यांत्रिक होता है।... लेकिन हमारे भीतर 'मन' या 'इच्छा-शक्ति' नाम की एक और वस्तु भी तो है। इसके योग से हमारे प्राणों पर एक और उपसर्ग बढ़ गया है। खाने की प्राकृतिक उत्तेजनाओं के साथ खाने का आनन्द भी आ मिला है।... (किंतु) इच्छा जब एक बार अपनी प्राकृतिक सीमाओं को पीछे छोड़ देती है तो फिर उस के रुकने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। तब वह केवल 'चाहिए', 'चाहिए' की रट लगाते हुए आगे बढ़ती चली जाती है।

'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'

संसार में अपने और पराए दु:ख का कारण अधिकतर यही होता है। इच्छा-शक्ति का विश्व-शक्ति से सामञ्जस्य ही सर्वोच्च आनन्द का आधार है। इच्छा को नष्ट करना ही हमारी साधना का उद्देश्य नहीं है। इच्छा को विश्व-इच्छा के साथ एक सुर में बाँधना ही समस्त शिक्षा का चरम लक्ष्य है। प्रारंभिक अवस्था में ही यदि इस दिशा में प्रयत्न न किया गया, तो हमारा चंचल मन पग-पग पर ठोकर खाता है। हमारा ज्ञान लक्ष्यहीन, प्रेम कलुषित, कर्म व्यर्थ और दिशाहीन हो जाता है। हमारे ज्ञान, प्रेम और कर्म का विश्व के साथ सहज मिलन नहीं होता। वे आत्मकेंद्रित इच्छाओं की मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं।

इसीलिए जीवन के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य-पालन से इच्छाओं को उचित सीमाओं में संयमित करने का अभ्यास आवश्यक है। ऐसे अभ्यास से विश्व-प्रकृति के साथ हमारी मन:स्थिति का स्वर क्रमश: बँधता रहेगा। बाद में हम अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार उसी स्वर में कोई भी रागिनी गाएं, सत्य, मंगल और आनन्द के मूल स्वरों को कोई आघात नहीं पहुँचेगा। इस तरह की शिक्षा पूरी होने के अनंतर ही संसार-धर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्राचीन संहिताकारों ने हमारे सामने जो आदर्श रखा वह किसी जाति विशेष या अवस्था विशेष के लिए ही सत्य नहीं है। वास्तव में वही एकमेव सत्य आदर्श है, और समस्त मानव-समाज के लिए वह कल्याणकारी है। जीवन के पहले भाग में श्रद्धा, संयम और ब्रह्मचर्य से इस के लिए प्रस्तुत होना है। द्वितीय भाग में गार्हस्थ्य के मंगल-कर्मों से आत्मा को परिपुष्ट करना है। तृतीय अवस्था में एक उदारतर क्षेत्र में उतरना है, बन्धनों को शिथिल करना है। और अन्त में हँसी-

खुशी मृत्यु को ग्रहण करना है, मोक्ष के रूप में मृत्यु को स्वीकार करना है। यदि मनुष्य का जीवन इसी क्रम से व्यवस्थित किया जाए तो वह पूर्णत: सुसंगत होगा, तात्पर्यशील होगा।

जो बादल समुद्र में उत्पन्न होते हैं और पर्वतों की रहस्यमयी गुफाओं से नदी के रूप में प्रवाहित होते हैं, वे अपनी यात्रा पूरी करके उसी समुद्र में पूर्णतर रूप से विलीन होते हैं। इसे देख कर हमें तृप्ति मिलती है, क्योंकि हमारा वास्तविक जीवन-क्रम भी ऐसा ही है। राह में ही — किसी भी स्थान पर — अचानक अवसान होने में असंगति है, असमाप्ति है। यदि इस बात को हमारा अंत:करण समझ ले, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि इस सत्य की उपलब्धि के लिए सम्पूर्ण मानव-समाज को, संसार की सारी जातियों को, विविध मार्गों से पग-पग पर ठोकरें खाकर भी अथक प्रयास करना है। इस की तुलना में विलासियों की भोग-सामग्री, राष्ट्रों की शक्ति, वणिकों की समृद्धि, सब कुछ गौण है। मनुष्य की आत्मा को जयी होना है, मुक्त होना है। तभी मानव की इतने दीर्घकाल की चेष्टा सार्थक होगी, नहीं तो यही सन्देह-ध्वनि बार-बार उठती रहेगी: *'तत: किम्, तत: किम्, तत: किम्।'*

हमारी शिक्षा में यूरोपीय देन

मुसलमान-कालीन बंगला साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि देवचरित्र की कल्पना को इस विश्वास ने कलुषित कर रखा था कि अन्याय करने का निर्बाध अधिकार ही ऐश्वर्य का लक्षण है। उन दिनों जिस तरह प्रबल लोग अत्याचार द्वारा अपना शासन पक्का करते थे, उसी तरह देवी-देवताओं के विषय में भी हमारी कल्पना थी कि उन की प्रतिष्ठा अन्याय की विभीषिका पर निर्भर है। निष्ठुर बल की हार-जीत से ही उन की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निर्णय होता था। ... उन दिनों प्रचलित उक्ति 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का अर्थ यही है कि जगदीश्वर का जगदीश्वरत्व उस की अप्रतिहत शक्ति के कारण है, न्यायपरता के विधान से नहीं, और इस हिसाब से दिल्लीश्वर भी जगदीश्वर-जैसी ही ख्याति का अधिकारी है। उस समय ब्राह्मण को भूदेव कहा गया - उस के देवत्व में महत्ता का अपरिहार्य दायित्व नहीं वरन् अकारण श्रेष्ठता का निरर्थक अहंकार देखा जाता है। ... इस में संदेह नहीं कि अंग्रेजी साम्राज्य मुगल साम्राज्य से भी अधिक प्रबल और व्यापक है; लेकिन किसी मूर्ख के अधरों से भी ये शब्द नहीं निकल

सकते कि 'वेलिंग्टनो वा जगदीश्वरो वा'; क्यों कि आकाश से बम बरसा कर शत्रु के गाँवों का विध्वंस करने की निर्मम शक्ति में आज कोई ईश्वरत्व का आदर्श नहीं देखता। आज हम मरते-मरते भी अंग्रेजी शासन की चर्चा न्याय-अन्याय का आदर्श सामने रखते हुए कर सकते हैं - आज हम यह नहीं मानते कि शक्तिमान से अपनी शक्ति को संयमित करने की माँग करना अशक्त की धृष्टता है। वास्तव में आज एक ऐसा स्थान है जहाँ न्याय-आदर्श की सार्वभौमिकता स्वीकार करके अंग्रेजी राज की प्रचण्ड शक्ति ने अपने-आपको अशक्त के साथ एक ही भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है।

जब अंग्रेजी साहित्य से हमारा प्रथम परिचय हुआ, हमें उस में केवल अभिनव रस का ही आस्वाद नहीं मिला था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति अन्याय दूर करने का आग्रह भी हम ने अंग्रेजी साहित्य में प्राप्त किया था; राजनैतिक क्षेत्र में मनुष्य की जंजीरों के टूटने की घोषणा सुनी थी; वाणिज्य क्षेत्र में मनुष्य को पण्यवस्तु बनाने के विरुद्ध प्रयास देखा था। मानना पड़ेगा कि हमारे लिए यह मनोभाव नूतन था। इस के पहले हम समझते थे कि जन्मगत नित्यविधान या पूर्वजन्मार्जित कर्मफल से विशेष जाति के लोग अपने असम्मान को, अधिकारहीनता को शिरोधार्य करने के लिए बाध्य हैं; उस का लांछन केवल दैवक्रम से किसी दूसरे जन्म में दूर हो सकता है।...

यूरोप के साथ हमारे सम्पर्क ने एक ओर तो हमें विश्व-प्रकृति में कार्य-कारण-विधि की सार्वभौमिकता दिखाई; दूसरी ओर, न्याय-अन्याय का वह विशुद्ध आदर्श दिखाया जो किसी शास्त्र-वाक्य के निर्देश से, किसी चिर-प्रचलित प्रथा के वेष्टन से, या किसी विशेष विधि से खंडित नहीं हो सकता। इसी तत्व के सहारे आज हम दुर्बलता के बावजूद अपनी राष्ट्रीय अवस्था बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हम जिन माँगों को मुगल सम्राट के सामने पेश करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे उन को लेकर उच्च कण्ठ से हम एक प्रबल राजशासन का विरोध कर रहे हैं - यह तत्व भी हम उसी तत्व के जोर से कर रहे हैं जो कवि के इस वाक्य में व्यक्त हुआ है: 'A man is a man for all that!' [स्कॉटिश कवि रॉबर्ट बर्न्स की कविता, 1785 में लिखित।]

वर्तमान युग में - जिसे 'यूरोपीय युग' कहना ही होगा - भारत के स्वातंत्र्य की प्रत्याशा भी हमारे मन में स्पष्ट रूप से विकसित होने लगी थी। उस प्रत्याशा में एक ओर अंग्रेजों के प्रति विरोध भावना थी, दूसरी ओर अंग्रेज चरित्र के प्रति

असाधारण आस्था; वरना मनुष्यत्व के नाम पर भारतीय शासन में अंग्रेजों के सहभागी हों सकेंगे, यह विश्वास हमारे मन में कहाँ से आया ? एक युग से सहसा हम ने दूसरे युग में कैसे पदार्पण किया ? किस शिक्षा ने हमें मानवीय मूल्यों की महत्ता दिखाई ?

हमारे अपने परिवार में, पड़ोस में, गाँव में मनुष्य के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सम्मान की माँग – प्रत्येक वर्ग के लिए न्यायसंगत व्यवहार समान अधिकार का सिद्धांत अब भी हमारे चित्त में सम्पूर्ण रूप से प्रवेश नहीं कर पाया है। वैज्ञानिक बुद्धि के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। पाठशाला के मार्ग से विज्ञान हमारे द्वार पर आया है, लेकिन घर में अभी भी शास्त्र-ग्रंथों का ही अधिकार है। फिर भी यूरोपीय विद्या, विरोध के बावजूद, हमारे मन में सम्मान का स्थान प्राप्त कर रही है।

इसलिए यदि हम सोच-विचार कर देखें तो इस युग को यूरोप के साथ हमारी सहयोगिता का युग कहेंगे। वस्तुत: जहाँ यूरोप के साथ हमारे चित्त का, हमारी शिक्षा का, असहयोग है वहीं हमारा पराभव है। ...

ज्ञानक्षेत्र में यूरोप को मनुष्य की मोहमुक्त बुद्धि पर श्रद्धा है और व्यवहार क्षेत्र में वह मनुष्य के न्याय-संगत अधिकार को स्वीकार करता है। इसी से, समस्त अभाव और त्रुटियों के बावजूद, हमारे आत्म-सम्मान का पथ खुल गया है। इस आत्म-सम्मान के गौरव-बोध से ही हम देश के लिए दु:साध्य को भी साध्य बनाने की आशा करते हैं और प्रबल पक्ष के साथ, उस के ही विचारों का आदर्श लेकर बहस करने का साहस करते हैं। मानना होगा कि यह चित्तगत, चरित्रगत सहयोग हमारे पुराने राजदरबारों में नहीं था।

शिक्षा संबंधी कर्तव्य

जो कम से कम जरूरी है वहीं तक यदि शिक्षा को सीमित किया गया तो बच्चों के मन की वृद्धि नहीं हो सकेगी। आवश्यक शिक्षा के साथ स्वाधीन पाठ मिलाना होगा, अन्यथा बच्चे की चेतना का विकास नहीं होगा – आयु बढ़ने पर भी बुद्धि की दृष्टि से वह सदा बालक ही रहेगा।

हम बी.ए. एम.ए. पास करते रहें, पुस्तकों के ढेर के ढेर निगलते रहें, पर हमारी बौद्धिक शक्ति परिपक्व नहीं होती, किसी चीज को हम कस कर पकड़ नहीं पाते, किसी चीज की आद्योपांत रचना नहीं कर पाते। हमारे विचार, हमारे

आचार-अनुष्ठान वैसे नहीं हैं जैसे बालिगों के होने चाहिए। इसीलिए हम अत्युक्ति, आडंबर और आत्मश्लाघा द्वारा अपने मानसिक दैन्य को ढाँकने की कोशिश करते हैं। इस का कारण यही है कि हमारी शिक्षा में बाल्य-काल से ही आनन्द का स्थान नहीं होता। जो नितांत आवश्यक है उसी को हम कंठस्थ करते हैं। इस से काम तो किसी न किसी तरह चल जाता है, लेकिन हमारा विकास नहीं होता। सब से पहले हमें शिक्षित मन की आवश्यकता है। स्कूल कॉलेज के बाहर शिक्षा के विस्तार का साधन है साहित्य। लेकिन साहित्य को सर्वांगीण रूप से शिक्षा का आधार बनाना है। उस को ग्रहण करने का पथ सब के लिए सुगम बनाना है।

मैं वहाँ की बात नहीं कर रहा हूँ जहाँ शिक्षा के पानी का नल लगा हुआ है, बल्कि वहाँ की, जहाँ तक पाइप नहीं पहुँचे। मातृभाषा में यदि शिक्षा की धारा प्रशस्त न हो तो इस विद्याहीन देश में मरुवासी मन का क्या होगा?

हमारी शिक्षा में पढ़ने की क्रिया के साथ-साथ सोचने की क्रिया नहीं होती। हम ढेर का ढेर जमा करते हैं, कुछ निर्माण नहीं करते। ईंट-पत्थर, बालू-चूना पहाड़ की तरह जमा हो जाते हैं...। जिस के बाद यकायक 'मकान' बनाने का हुक्म मिलता है। जिस का कभी प्रशिक्षण ही नहीं हुआ।

संग्रहणीय वस्तु हाथ में आते ही उस का उपयोग जानना, उस का प्रकृत परिचय प्राप्त करना, और जीवन के साथ-ही-साथ उस का आश्रय स्थल बनाते जाना - यही है रीतिमय शिक्षा।

उच्च-शिक्षा के विश्वविद्यालय

देश को विद्या के प्रति जिस विशेष स्नेह, गौरव और दायित्व का बोध होता है उसी के रक्षा और प्रचार के लिए विश्वविद्यालय का निर्माण होता है।

जिसे यूरोप में यूनिवर्सिटी कहा जाता है, वह विशेष रूप से यूरोप की ही चीज है। लेकिन हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों का नामकरण और रूपकरण देश की परंपराओं के अनुगत नहीं हुआ है। इस देश की जलवायु के साथ उन का स्वभावीकरण नहीं घटित हुआ।

प्राचीन भारतीय विद्यापीठों में विद्या का केवल संचय नहीं होता था - विद्या का गौरव भी प्रतिष्ठित था। ह्वेनसांग कहते हैं कि यहाँ पढ़ने वाले आचार्यों का यश दूर-दूर के देशों तक फैल चुका था। उन का चरित्र विशुद्ध और अनिंदनीय

था। वे धर्म का अनुशासन अकृत्रिम श्रद्धा के साथ निभाते थे। ... छात्रगण भी तीक्ष्ण बुद्धि, श्रद्धावान और योग्य थे। कठिन परीक्षा के बाद ही उन्हें प्रवेशाधिकार मिलता था। ह्वेनसांग कहते हैं कि दस छात्रों में दो-तीन ही उत्तीर्ण हो पाते थे – अर्थात् तात्कालीन मैट्रिकुलेशन की छलनी के छिद्र बड़े-बड़े नहीं थे! सारी पृथ्वी के सम्मुख आदर्श को विशुद्ध और उन्नत रखने का दायित्व-बोध जागरूक था। लोग सचेत थे, कहीं अयोग्य छात्रों को प्रश्रय देने से विद्या का अध:पतन न हो, देश की मानसिक क्षति न हो।

आज जब कि अपने प्रति, मानव के प्रति, और अपनी साधना के प्रति आलस्य और अश्रद्धा की भावना है, कई मूल्यवान आदर्श बिना विचारे त्याग दिए गए हैं।

यदि विद्या को बाह्य वस्तु के रूप में ही देखा जाए तो उसे चित्त की संपदा समझना अनावश्यक हो जाता है। ऐसी विद्या के न तो दान में गौरव है, न ग्रहण में।

कभी-कभी ऐसे शिक्षक देखने में आते हैं, जिन के लिए शिक्षादान स्वभाव-सिद्ध होता है। वे अपने गुण से ही ज्ञान-दान करते हैं, अपने अंत:करण से शिक्षा को निजी सामग्री बनाते हैं; उन की प्रेरणा से छात्रों में मनन-शक्ति का संचार होता है। विश्वविद्यालय के बाहर, जीवन के क्षेत्र में, उन के छात्रों की विद्या फलवती होती है।

सार्थक विश्वविद्यालय वही है जो ऐसे शिक्षकों को आकर्षित करता है, जहाँ शिक्षा की सहायता से मनोलोक की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ही सभ्यता का मूल है।

देश के अभाव को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा की जाती है। इस संबंध में जापान का उल्लेख किया जा सकता है। जापान में विद्या को सत्य बनाने की इच्छा इसी से व्यक्त होती है कि स्वदेशी भाषा को शिक्षा क्षेत्र में स्वीकार करने में विलम्ब नहीं किया गया। सर्व-साधारण की भाषा के आधार पर जापान ने विश्वविद्यालय को सब के लिए उपयुक्त संस्था बनाया। इस से शिक्षित और अशिक्षित लोगों के बीच चित्त-प्रसारण का मार्ग प्रशस्त हुआ। तभी आज वहाँ देश भर में बुद्धि की ज्योति दीप्तिमान है।

हमारे देश में जब मातृभाषा को शिक्षा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव दिया गया तब अंग्रेजी जानने वाले विद्वान बेचैन हो उठे। उन्हें आशंका

थी कि जिन थोड़े से लोगों को अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करने का सुयोग प्राप्त है उन का अधिकार कम न हो जाए। दरिद्र की आकांक्षा भी दरिद्र ही होती है। यह मानना पड़ेगा कि जापान स्वाधीन देश है; वहाँ के लोगों ने विद्या का जो मूल्य स्थिर किया उसे चुकाने में वहाँ कृपणता नहीं दिखाई जाती। और हमारे अभागे देश में पुलिस और सेना विभागों के भोज की बची हुई उच्छिष्ट सामग्री से ही विद्या का किसी तरह समाधान किया जाता है। गौरव का प्रश्न ही नहीं उठता, किसी तरह लज्जा निवारण होता है।

शिकायत करते रहना बेकार है। यदि हम पराधीनता को कोसते रहें और निष्चेष्ट हो जाएं तो इस में कोई काम नहीं निकलेगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय, मुस्लिम विश्वविद्यालय

हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए स्वतंत्र विश्वविद्यालय की स्थापना करते हुए बहुतों को जो डर मालूम होता है, वह निराधार नहीं है। लेकिन फिर भी इस बात पर जोर देना होगा कि जिस शिक्षा में समस्त प्राच्य और पाश्चात्य विद्या का समावेश हो रहा है वह शिक्षा सदा के लिए आतिशय्य की ओर नहीं जा सकती। जो स्वतंत्र हैं वे यदि एक-दूसरे के पास आकर खड़े हों तभी उन का एकांगीपन दूर होता है और उन का यथार्थ सत्य व्यक्त होता है। अपने घर में बैठकर हम अपने लिए जितना बड़ा आसन बनाएं, दूसरों के बीच आते ही अपने-आप हमारे लिए उपयुक्त आसन मिल जाता है। हिन्दू या मुस्लिम विश्वविद्यालय में यदि सारे विश्व को स्थान दिया जाए तो फिर साथ-साथ निजी स्वातंत्र्य को स्थान देने में भी कोई विपद नहीं है। वस्तुतः इसी तरह स्वातंत्र्य का यथार्थ मूल्य निर्धारित होगा।

जब भारतीयों में राष्ट्रीय ऐक्य-लाभ की चेष्टा प्रबल हुई, जब अपनी सत्ता के संबंध में हमारी चेतना विशेष रूप से जाग्रत हुई, तब हमारे मन में इस इच्छा ने भी जन्म लिया कि सारे मुसलमानों को अपने साथ मिला लें। लेकिन इस में हमें सफलता नहीं मिली। यदि हम मुसलमानों को अपने साथ एक कर लेते तो हमारे लिए सुविधा अवश्य होती। लेकिन सुविधा होने से ही ऐक्य स्थापित नहीं होता। हिन्दू- मुसलमानों में जो वास्तविक अंतर है उस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रयोजन साधन के आग्रह से यदि हम इस पार्थक्य को अस्वीकार करें तो वह पार्थक्य भी हमारे प्रयोजन को नहीं मानेगा।

हिन्दू-मुसलमानों में सभी दिशाओं में वास्तविक ऐक्य का निर्माण नहीं हुआ है, इसीलिए राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें एक करने का प्रयास संदेह और अविश्वास का कारण बन जाता है। इस संदेह को भित्तिहीन कह कर अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा। हम ने जब भी मुसलमानों को पुकारा है, अपने काम में सहायता प्राप्त करने के लिए पुकारा है, उन्हें अपना समझ कर नहीं बुलाया। यदि कभी हम देखते हैं कि हमारी कार्यसिद्धि के लिए उन की जरूरत नहीं है तो उन्हें बेकार समझ कर पीछे हटाने में हमें संकोच नहीं होता। उन्हें हम अपना यथार्थ साथी नहीं समझते, बल्कि हमारी दृष्टि में उन का स्थान आनुषांगिक है। जब दो पक्षों में असामञ्जस्य होता है तब उन का मिलन उसी समय तक रहता है जब तक किसी बाह्य बाधा का अतिक्रमण करने के लिए उन का एकत्र रहना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता दूर होते ही बँटवारे के समय दोनों पक्ष एक-दूसरे की प्रताड़ना करते हैं।

मुसलमानों के मन में ऐसा संदेह है, इसीलिए वे हमारा नियंत्रण स्वीकार करने में हिचकते हैं। यदि हम दोनों एकत्र रहें तो व्यापक रूप से लाभ ही होगा। लेकिन लाभ का अंश उन के पक्ष में यथेष्ट होगा, इस विषय में मुसलमानों के मन में शंका है। इसीलिए मुस्लिमों का यह कहना असंगत नहीं है कि 'हम अलग रह कर ही आगे बढ़ सकते हैं और इसी में हमारा लाभ है।'

कुछ दिन पहले तक हिन्दू-मुसलमानों में इस तरह की तीव्र पार्थक्यानुभूति नहीं थी। हम दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे में मिल गये थे और हमारी दृष्टि भिन्नता पर नहीं जाती थी। लेकिन पार्थक्यानुभूति का अभाव भी एक 'अ-भाव' ही है। वह भावात्मक नहीं है। अर्थात् हम आपसी भेद के विषय में अचेतन थे - इसलिए नहीं कि इस में वास्तविक ऐक्य था बल्कि इसलिए कि हम में प्राणशक्ति का अभाव था और हम दोनों ही चैतन्यहीनता से अभिभूत थे। एक ऐसा दिन आया जब हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर गौरव करने लगे। उस समय यदि मुसलमान हिन्दुओं का गौरव स्वीकार करके चुपचाप पड़े रहते तो हिन्दू बहुत खुश होते इस में संदेह नहीं। लेकिन जिस कारण से हिन्दुओं का हिन्दुत्व उग्र हो उठा उसी कारण से मुसलमानों के मुस्लिमत्व ने अपना सिर उठाया। आज वे मुसलमानों के रूप में ही प्रबल होना चाहते हैं, हिन्दुओं में विलीन होकर नहीं। बिना धनवान बने दान करना कष्टकर होता है। मनुष्य जब अपने-आप को महान बनाता है तभी त्याग कर पाता है। जब तक उस में अभाव और क्षुद्रता है तब

तक ईर्ष्या और विरोध दूर नहीं हो सकते। तब तक यदि मनुष्य किसी से मिलता है तो बाध्य हो कर मिलता है। ऐसा मिलन कृत्रिम होता है। छोटा होकर आत्मबोध करने में अकल्याण है, महान और आत्म-विसर्जन करने में ही श्रेय है। आधुनिक शिक्षा के प्रति मनोवेग न रखने से भारत के मुसलमान अनेक विषयों में हिन्दुओं से पीछे रह गए हैं। इस विषमता को दूर करने के लिए मुसलमानों ने सभी दिशाओं में हिन्दुओं से अधिक अधिकार माँगना शुरू कर दिया है। उन के इस दावे के प्रति हमारी सम्मति होना ही उचित है। पद, मान, और शिक्षा में उन का हिन्दुओं के समान स्तर पर उठना स्वयं हिन्दुओं के लिए मंगलप्रद है।

वास्तव में जो चीज बाहर से प्राप्त की जाती है, दूसरों की प्रार्थना करके प्राप्त की जाती है, उस की एक सीमा होती है। वह सीमा हिन्दू-मुसलमानों के लिए प्राय: एक सी है।

अपने गुण और शक्ति से ही हम अपना स्थाई मंगल अर्जन कर सकते हैं। योग्यता-लाभ के अतिरिक्त अधिकार-लाभ का दूसरा पथ नहीं है। यह बात जितनी जल्दी समझी जाए उतना ही श्रेयस्कर है।

स्वतंत्र विश्वविद्यालय की स्थापना और इस तरह के दूसरे प्रयासों के लिए मुसलमानों में जो उत्साह है उस में यदि प्रतियोगिता का भाव हो तो वह भाव उन के प्रयास का स्थाई और सत्य पक्ष नहीं है। स्वातंत्र्य की उपलब्धि ही सत्य पदार्थ है।

आधुनिक युग की जो दीक्षा है उस में प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों का योग है। केवल अपना ही शास्त्र पढ़ कर पंडित होने की आशा कोई नहीं कर सकता। आज मानव-प्रयास की गति जिस दिशा में है वहाँ ज्ञान एक विश्व-यज्ञ हो चला है और समस्त मानव-जाति के चित्त-मिलन के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर रहा है।

प्रति दिन इस बात का परिचय प्राप्त होता है कि मानवीय ज्ञान के विकास में प्राच्य विद्या का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। फिर भी हमारी शिक्षा व्यवस्था पहले की तरह ही चल रही है। हमारे विश्वविद्यालयों में हमारी ही शिक्षा के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मशास्त्रों के अध्ययन के लिए किसी जर्मन छात्र को जो सुविधा प्राप्त है वह हमारे छात्रों को नहीं है। ऐसी असंपूर्ण शिक्षा से हमारी क्षति हो रही है, और इस बात का बोध आज आज के युग धर्म ने ही हमारे मन में जागृत किया है।

जाति-भेद और शिक्षा

कुछ दिनों से हमारे देश में शिक्षा के उपायों और उस की प्रणाली में परिवर्तन लाने का जो प्रयत्न चल रहा है, वह यदि अच्छी तरह सफल नहीं हो रहा है तो उस का कारण है हमारी आज तक की संपूर्ण शिक्षा। जो चीज हम ने ठीक से प्राप्त नहीं की उस को देने का चाहे जितना प्रयत्न करें, हम दे नहीं सकेंगे।

एक दल ऐसे लोगों का है जो स्वजाति की विशिष्टता का गौरव करते हैं, लेकिन इस विशिष्टता को अत्यंत संकीर्ण रूप में देखते हैं। जो प्रचलित है उसी को वे उच्च स्थान देते हैं, जो चिरंतन है उसे नहीं। हमारी दुर्गति के दिनों में जो विकृतियाँ जमा हुई हैं, जिन से हमारे और अन्य देशों के बीच विरोध उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने हमें खंडित और दुर्बल बनाया है और इतिहास में बार-बार जिन के कारण हम लज्जित हुए हैं, उन विकृतियों को ही वे विशेषत्व कहते हैं और उन में तरह-तरह के काल्पनिक गुण देखते हैं। काल-प्रवाह ने जिस का परित्याग किया है उसी में वे देश का सत्य परिचय प्राप्त करना चाहते हैं और उसी को चिरस्थाई बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में चंद्र-सूर्य की अपेक्षा वह आलोक ही अधिक सनातन है जो पथिकों को भ्रम में डाल देता है।

हम लोग पाश्चात्य शास्त्रों का जिस वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, और युक्तिमूलक दृष्टि से अध्ययन करते आए हैं, वैसा अध्ययन हमारे अपने शास्त्रों का नहीं किया गया। मानो दुनिया में सर्वत्र अभिव्यक्ति का नियम काम करता है परन्तु भारत में वह प्रवेश नहीं कर पाता; मानो भारत में सब कुछ अनादि और इतिहास से परे है। यहाँ किसी देवता ने व्याकरण की सृष्टि की है, किसी ने रसायन की, किसी ने आयुर्वेद की। किसी देवता के मुख-हस्त-पद से चारो वर्ण बाहर निकले हैं। सब कुछ ऋषियों और देवताओं ने मिलकर अचानक उपस्थित किया है, इस पर और किसी की कोई बात नहीं चल सकती। इसीलिए भारत का इतिहास लिखते समय अदभुत अनैसर्गिक घटनाओं का वर्णन करते हुए हमारी लेखनी को संकोच नहीं होता। शिक्षित लोगों में भी हम यह बात प्रति दिन देख सकते हैं। हमारे सामाजिक आचार-व्यवहार के क्षेत्र में भी बुद्धि का कोई अधिकार नहीं है; क्यों कि किसी कार्य को हम करें या न करें, उस के कारण की जिज्ञासा करना असंगत माना जाता है। कार्य-कारण का नियम विश्व-ब्रह्मांड में केवल भारत पर ही लागू नहीं होता; सभी कारण शास्त्रों में निहित हैं।

शिक्षित समाज में भी जो इस तरह का असंगत व्यवहार चलता है उस का

एक कारण यह है कि जहाँ पाश्चात्य शास्त्रों का हम विद्यालय में अध्ययन करते हैं, प्राच्य शास्त्रों को हम किसी अन्य अवस्था में पढ़ते हैं। इसीलिए दोनों के संबंध में हमारे मन में अलग-अलग भावना होती है। अनायास ही हम यह मान लेते हैं कि बुद्धि का नियम इन में से एक ही स्थान पर लागू होता है और दूसरे स्थान पर केवल व्याकरण का नियम चल सकता है। दोनों को यदि हम एक ही विद्यालय में पढ़ें, एक ही शिक्षा का अंग मानें, तो यह धारणा दूर हो सकती है।

आज शिक्षित लोगों में स्वातंत्र्य का अभिमान प्रबल हो रहा है। इस अभिमान के विकास में पहले-पहल विचार नहीं होता, केवल उत्साह होता है। हमारा अपना जो कुछ है उस की आज तक निर्विचार रूप से अवज्ञा की गई है। अब इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है। अब हम कभी-कभी वैज्ञानिक विचारधारा का दिखावा करते हैं जो निर्विचार से भी बुरा है। इस तीव्र अभिमान की कालिमा सदा के लिए नहीं रह सकती। जब क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात शान्त होगा तो घर में और बाहर से सत्य को ग्रहण करना हमारे लिए संभव होगा।

एक दिन यही हिन्दू सभ्यता सजीव थी, उस ने समुद्र पार किया था, उपनिवेश बसाए थे, दिग्विजय की थी। दूसरों को कुछ दिया था और दूसरों से कुछ ग्रहण किया था। उस समय उस का अपना शिल्प था, वाणिज्य था। उस का क्रम-प्रवाह व्यापक और वेगवान था। उस के इतिहास में नये-नये मतों का अभ्युत्थान होता था, उस में सामाजिक और धार्मिक क्रांति के लिए स्थान था। उस समय स्त्री-समाज में भी वीरत्व, विद्या और तपस्या थी। महाभारत के पृष्ठ-पृष्ठ पर इस बात का परिचय मिलता है कि उस समय आचार-व्यवहार लोहे के साँचे में ढली हुई अचल वस्तु नहीं थी। हिन्दू समाज एक वृहत, विचित्र और जागृत चित्तवृत्ति की ताड़ना से नये-नये अध्यवसायों में प्रवृत्त था। वह भ्रांतियों के बीच से गुजरते हुए सत्य की ओर यात्रा करता था; परीक्षा के बीच, सिद्धांत और साधना के बीच, पूर्णता-लाभ करता था। वह श्लोक-संहिताओं की जटिल रस्सियों से बँधकर कठपुतली की तरह एक निर्जीव नाट्य की पुनरावृत्ति नहीं करता था। बौद्ध और जैन उस समाज के अंग थे।

पर आज मानो जो अचल है, गतिहीन है, उसी को हम हिन्दू समाज कहते हैं। प्राण के धर्म को हम हिन्दू समाज का अंग नहीं मानते, क्यों कि वह विकास का धर्म है, परिवर्तन का धर्म है, निरन्तर ग्रहण-वर्जन का धर्म है।

इसीलिए मन में आशंका होती है कि जो लोग हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते हैं वे हिन्दुत्व की कौन सी धारणा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त हुए हैं? लेकिन केवल इस आशंका से हिम्मत हारना उचित नहीं है। हमें हिन्दुत्व की धारणा को नष्ट नहीं करना है, बल्कि उसे विशाल बनाना है। उसे चालना देने से वह अपने आप बड़ी होगी; बाँध कर रखने से ही उस का क्षुद्र और दुर्बल होना अनिवार्य है। विश्वविद्यालय ऐसी ही चालना का क्षेत्र है। वहाँ बुद्धि क्रियाशील है और चित्त को सचेतन बनाने का आयोजन है। चेतना स्त्रोत यदि प्रवाहित हो तो वह अपने-आप धीरे-धीरे जड़ संस्कार का बंधन तोड़कर अपने लिए एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर लेगा।

यदि हिन्दू सचमुच यह समझते हैं कि शास्त्रों के द्वारा सदा के लिए जकड़े रहना और निश्चल होना ही हिन्दू प्रकृति का विशेषत्व है, तब तो उन्हें विश्वविद्यालय की कल्पना को बहुत दूर रखना चाहिए।

कुछ लोगों का विश्वास है कि हिन्दुत्व में कोई गतिविधि नहीं है, वह स्थावर पदार्थ है। वर्तमान युग के आघात से कहीं वह विचलित न हो, उस के स्थावर धर्म को चोट न पहुँचे, इस विचार से उसे कस कर बाँध रखना ही वे हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मानते हैं। ऐसे लोग भी मानव चित्त को दीवारों से घेरने के बदले उसे विश्व-विद्या की मुक्त वायु के संपर्क में लाना चाहते हैं। वे भ्रम या अविवेचना के कारण ऐसा नहीं करते।

आधुनिक शिक्षा ने चंचलता को जन्म दिया है, लेकिन इस के बावजूद उस में मंगल है और उस मंगल को हम ने अपने मन में उपलब्ध किया है। उस में जो विपद् है उसे भी हम ने स्वीकार किया है। निरापद मृत्यु को वरण करने के लिए अब हम राजी नहीं हैं। जीवन की सारी जिम्मेदारी और सारे कष्ट को हम वीरतापूर्वक स्वीकार करते हैं। हम जानते हैं कि जीवन में उलट-फेर होगा, हम से बहुत सी गलतियाँ होंगी, प्राचीन व्यवस्था को विच्छिन्न करने से हमें विशृंखलता का दु:ख भोगना होगा।

वह दिन आ गया है जब हम में से कोई भी ग्राम्यता को राष्ट्रीयता कह कर उस पर गर्व नहीं कर सकता। हमारे व्यवहार के जिन संस्कारों ने हमें क्षुद्र बना कर दूसरों से पृथक किया है, जिन के कारण हमारे जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में चिंतन, कर्म, दान, भ्रमण, ग्रहण - सभी में बाधाएं निर्माण हुई हैं, उन कृत्रिम विघ्नों को दूर करना ही होगा, अन्यथा मानवता की राजधानी में हमारे लांछन

की सीमा नहीं रहेगी। इस बात को हम मुँह से स्वीकार करें या न करें, हमारे हृदय ने इसे समझ लिया है। हम विविध उपायों से अपनी उसी वस्तु को ढूँढ रहे हैं जिसे विश्व का आदर प्राप्त है, जो केवल अपने ही घर में बना हुआ आचार-अनुष्ठान नहीं है। उस वस्तु को उपलब्ध करने से ही हमारी रक्षा होगी।

मैं यह नहीं समझता कि अलादीन का चिराग मिल गया है और न मुझे यह आशा है कि बहुत ही अल्प समय में कोई बड़ी सफलता मिलेगी। मैं देख रहा हूँ कि हमारा चित्त जागृत हो चुका है। मनुष्य के इसी चित्त पर मेरा विश्वास है। या यदि यह भूल करे तब भी मैं इसे अचूक यंत्र से बड़ा मानता हूँ। यह जागृत चित्त जिस काम में प्रवृत्त हों रहा है वह हमारे लिए यथार्थ कार्य है।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध

आज मुसलमानों को हम संख्या-गणना की दृष्टि से देखते हैं - हाल में उन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन में योग-वियोग की समस्या उत्पन्न हुई है; अर्थात् उन की संख्या से गुणन का अंकफल नहीं, विभाजन का ही अंकफल निकल रहा है। वे देश में हैं, फिर भी राष्ट्रगत ऐक्य के अनुसार नहीं रहते। भारत की लोक-संख्या-तालिका उन के बहुलत्व से अत्यंत शोकावह हो उठी है।

देश के लिए भी हम नेतिसूचक स्वाधीनता नहीं चाहते; देश के समस्त लोगों के संबंधों को यथासंभव सत्य और बाधाहीन बनाना चाहते हैं। भेद के कारणों को दूर करके ही यह संभव है; लेकिन ये कारण बाह्य भी हो सकते हैं, आंतरिक भी। हम पाश्चात्य जगत के इतिहास में पढ़ते हैं कि वहाँ के लोग अक्सर 'स्वाधीनता चाहिए' कह कर कोलाहल करते हैं। हम भी उस कोलाहल का अनुकरण करते हैं - कहते हैं कि हमें 'स्वाधीनता चाहिए'।

लेकिन जब हम कहते हैं कि 'स्वाधीनता चाहिए', हमें भी सोचना होगा कि हमारे दु:ख और अकल्याण की जड़ें कौन से प्रभेदों में हैं; अन्यथा केवल अभ्यासवश 'स्वाधीनता' शब्द का व्यवहार करना बेकार है। जो लोग प्रभेद को अपने बीच चाहते हैं, उस का पोषण करते हैं, ऐसे लोगों को स्वाधीनताकांक्षी कहना निरर्थक है।

अंग्रेजों के बीच जो आपसी भेद था उसे उन्होंने एक दिन मशीन पर पक्की सिलाई करके जोड़ दिया। लेकिन जहाँ कपड़ा तैयार ही न हुआ हो, जहाँ सूत के धागे अलग-अलग उलझे पड़े हों, वहाँ राजनैतिक सिलाई मशीन की बात

सोचना बेकार है। वहाँ हमें प्रश्न को और भी गहराई में देखना होगा; सामाजिक करघे पर सूत के धागों को चढ़ाकर उन से कपड़ा बुनना होगा। इस में काफी समय लगेगा, लेकिन सिलाई मशीन के प्रयोग से जल्दी-जल्दी समस्या हल करना यहाँ संभव नहीं है।

मेरे एक मित्र सीमाप्रांत में नियुक्त थे। वहाँ पठान आक्रमणकारी कभी-कभी हिन्दू बस्तियों पर टूट पड़ते और स्त्रियों को पकड़ ले जाते। एक बार ऐसी ही घटना के बाद मेरे मित्र ने एक स्थानिक हिन्दू से पूछा: ''ऐसा अत्याचार तुम कैसे सहते हो?'' उस ने अत्यंत उपेक्षा से उत्तर दिया: ''वह तो बनिए की लड़की थी''। बनिए की लड़की हिन्दू है, उस के अपहरण के प्रति उदासीन व्यक्ति भी हिन्दू है। दोनों में शास्त्रगत योग हो सकता है लेकिन प्राणगत योग नहीं है। एक पर आघात होता है तो दूसरे के मर्म तक आवाज नहीं पहुँचती।

अत: जातीय ऐक्य का आदिम अर्थ है जन्मगत ऐक्य। उस का यही अर्थ सदा रहा है, और सदा रहेगा।

जो चीज अवास्तविक है, उस पर किसी महान कार्यसिद्धि की नींव नहीं रखी जा सकती। बाध्य होकर मनुष्य अपने ही काम से स्वयं बचना चाहता है, और इस तरह अपने-आपको धोखा देता है। विभ्रांत होकर वह सोचता है, बाएं हाथ से धोखा देकर दाएं हाथ से लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

हमारी राष्ट्रीय ऐक्य-साधना के केंद्र-स्थल में एक बहुत बड़ी जातीय अवास्तविकता है, इस बात को हम सब आंतरिक रूप से जानते हैं। हम इस पक्ष को अगोचर रखते हैं; उस पर स्वदेश-प्रेम का जयस्तंभ गाड़ कर उसी को अच्छी तरह सजाना चाहते हैं, जिस से दृष्टि उसी की ओर आकर्षित हो। किन्तु कच्ची दीवार पर चूने-गारे का लेप चढ़ाने से वह पक्की दीवार नहीं बनती। उसी मसाले के भार से एक दिन दीवार की कमजोरी का भीषण प्रमाण मिलता है।

खलीफत के प्रश्न का सहारा लेकर हिन्दू-मुसलमानों में संधि स्थापित हुई थी; आज दोनों में जो तीव्र विरोध है वह ऊपर कही बात का दृष्टांत है। मूलगत प्रश्न पर यदि भूल की जाए तो किसी मामूली उपाय से उस का संशोधन नहीं हो सकता। इन सब बातों को सुनकर लोग अधीर हो जाते हैं, और कहने लगते हैं: 'हमारे चारो ओर जो तृतीय पक्ष शत्रु रूप में विद्यमान है, वही हमलोगों में फूट डालता है, इसलिए दोष हमारा नहीं उस का है। अब तक हम हिन्दू-मुसलमान मिल जुल कर रहते थे, लेकिन.. इत्यादि।' जबकि शास्त्र में कहा है, कलि और

शनि मनुष्य के जीवन में प्रवेश करने के लिए छिद्र ढूँढते हैं! पाप का छिद्र देखते ही वे अंदर सर्वनाश आरंभ कर देते हैं। विपद् बाहर की है, और पाप हमारा है; इसीलिए विपद् के प्रति क्रोध और पाप के प्रति ममता दिखाना सब से बड़ी विपत्ति है।

जहाज के पेंदे में दरार पड़ गई है। जब तक आँधी-तूफान नहीं आता, जहाज चलता रहता है। बीच-बीच में खारा पानी निकालना पड़ता है, लेकिन यह छोटा सा कष्ट स्मरण रखने योग्य नहीं है। तूफान आता है, दरार बढ़ती जाती है, और जहाज डूबने लगता है। कप्तान यदि कहे: 'सारा दोष तूफान का ही है, इसलिए सब को मिल कर तूफान का धिक्कार करना चाहिए, दरार जैसी है वैसी ही रहे' तो ऐसा नेता यात्रियों को समुद्र-पार नहीं, रसातल पहुँचा देगा।

प्राचीन भारत ने एक दिन विधाता से यह वर माँगा था: *'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु, यह एक: अवर्ण:'* - जो एक है, वर्णभेद से परे है, वह हमें शुभ बुद्धि द्वारा संयुक्त करे। उस समय भारत ने ऐक्य चाहा था - लेकिन राजनैतिक या सामाजिक यंत्र से बना हुआ ऐक्य नहीं। *बुद्ध्या शुभया,* शुभ बुद्धि द्वारा ही एक होना चाहा था; अंध परवशता की जंजीर द्वारा नहीं, विचारहीन नियम के कठोर दबाव से नहीं।

हिन्दू मुसलमानों का विरोध, इस समस्या का समाधान इतना कठिन इसलिए बन गया है कि दोनों पक्षों ने अपने-अपने धर्म के द्वारा अचल भाव से अपनी सीमाओं को निर्दिष्ट किया है। धर्म ने ही उन के लिए मानव-जगत स्याह-सफेद में अपने-पराए में विभक्त कर दिया है।

हिन्दुओं की व्यवस्था है कि परकीय चिरकाल तक परकीय ही रहे; उन की इच्छा है कि यह पराया - यह म्लेच्छ कहीं से भी उन के घर में प्रवेश न कर सके। मुसलमानों के पक्ष में ठीक इस के विपरीत परिस्थिति है। धर्म के वेष्टन से जो बाहर हो उन्हें वे भी परकीय समझते हैं, लेकिन इन परकीयों को - काफिरों को - जबरदस्ती घसीट कर सदा के लिए अपने घर में ले आने में इन्हें खुशी होती है।

इस प्रकार, लोक-व्यवहार के क्षेत्र में इन में से एक पक्ष सदियों से धर्म को एक दुर्गम किला बनाकर दूसरों को दूर हटाकर आत्मकेंद्रित हो जाता है, और अन्य पक्ष धर्म को अपना व्यूह बनाकर दूसरों पर हमला करके उन्हें घसीट कर अपनी तरफ लाता है। इस तरह इन लोगों के स्वभाव दो अलग प्रकार की भेदबुद्धि से पक्के हो गये हैं।

इसलिए तात्कालिक राजनीतिक मुद्दों पर मतलबी मिलन कभी चिरस्थाई नहीं हो सकता। हम सत्य रूप से एक नहीं हुए हैं।

हिन्दू मुसलमानों में केवल धर्मगत भेद ही नहीं, उन के बीच सामाजिक शक्ति की असमकक्षता भी आ गई है। मुसलमानों के धर्म समाज के चिरागत नियम की ही शक्ति से उनमें निबिड़ एकता उत्पन्न हुई है; और हिन्दू धर्म समाज के सनातन अनुशासन के प्रभाव से उन में अनैक्य है। इस का परिणाम यह होता है कि विशेष प्रयोजन न होने पर भी हिन्दू एक-दूसरे पर आघात करते हैं, और प्रयोजन होने पर भी किसी परकीय पर आघात नहीं करते। इस के विपरीत मुसलमान प्रयोजन न होने पर भी अपनी रक्षा के लिए एक हो जाते हैं और प्रयोजन हो तो दूसरों पर तीव्र आघात कर सकते हैं। इस का कारण यह नहीं है कि मुसलमान का शरीर ताकतवर है, हिन्दू का शरीर कमजोर। कारण यह है कि मुसलमानों का समाज शक्तिशाली है, हिन्दुओं का नहीं। एक पक्ष आभ्यांतरित रूप प्रबल है, दूसरा निर्जीव। इन के बीच समकक्षता कैसे हो, दोनों में संधि कैसे हो?

इसीलिए जब जागृत विश्व चिंतन और कार्य में लीन हैं, पीछे से केवल हमारी पीठ पर – 'ठीक मध्याह्न वेला, भूत मारे ढेला' वाली स्थिति है। हमारी लड़ाई भूत के विरुद्ध है, अबुद्धि और अवास्तविकता के विरुद्ध है। उसी ने हमारे चारो और विच्छेद की दीवार खड़ी की है, हमारे कंधों पर उसी ने परवशता को बैठा दिया है, उसी ने हमें इतना अंधा बना दिया है कि ढेले को तो हम उच्च स्वर में कोसते हैं , लेकिन भूत को परमात्मीय, परमाराध्य समझते हैं, उसे देवता का स्थान देते हैं।

दुनिया में ढेले असंख्य हैं। एक से हम बचें तो दूसरा प्रस्तुत है। लेकिन भूत तो एक ही है। यदि उसी भूत को भगा दें तो ढेले हमारे पैरों के नीचे होंगे, शरीर पर नहीं पड़ेंगे। भारतवर्ष की उसी प्राचीन प्रार्थना को आज फिर संपूर्ण प्राण-मन से व्यक्त करने का समय आ गया है, केवल मुँह से नहीं, चिंतन से, कर्म से, श्रद्धा से, पारस्परिक व्यवहार से: *'स एकः अवर्णः'* जो एक है, सारे वर्णभेदों से परे है, *'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु',* वही हमें शुभ बुद्धि देकर आपस में संयुक्त करे।

अपनी सतर्क बुद्धि को सदा जाग्रत रखने के लिए सचेष्ट शक्ति आवश्यक होती है। जो समाज दैवी गुरु और अप्राकृत प्रभावों के प्रति आस्थावान नहीं होता,

जिस समाज ने बुद्धि पर विश्वास करना सीखा है, उस में पारस्परिक सहायता और उत्साह से मनुष्य की मानसिक शक्ति सक्रिय रहती है। हमारे देश की सदोष शिक्षा प्रणाली में शिक्षा या तो सतही होती है या उस का दायरा बहुत संकीर्ण होता है। इसलिए समाज की सम्मिलित मानसिक-शक्ति हमें प्रगति की ओर या आत्मशक्ति की ओर नहीं बढ़ाती। वह सहज ही आलसी बन जाती है, प्रचलित विश्वास और चिरागत प्रथा के सामने आत्म-समर्पण करके छुटकारा पाती है। उस के बाद? हम में और अशिक्षित लोगों में केवल इतना ही प्रभेद रह जाता है कि वे अपने अंधविश्वास के कारण बेखटके सोते रहते हैं, और हम आत्म-विस्मृत होकर अफीम की नींद में पड़े रहते हैं। हम कुतर्क द्वारा अपनी लज्जा बचाना चाहते हैं; जो काम जड़ता या कायरता के कारण करते हैं उस के लिए सुनिपुण या अनिपुण व्याख्या तैयार करते रहते हैं और यह दिखाते हैं कि वह काम वास्तव में गर्व का विषय है। लेकिन वकालत के जोर से दुर्गति को छिपाया नहीं जा सकता।

देश की मुक्ति का कार्य बहुत बड़ा है, फिर भी उस का उपाय छोटा होगा, यह आशा करना ही बड़ी भूल है। इसी आशा के कारण हम वास्तविकता में या अपनी बुद्धि में विश्वास रखने के बदले भुलावे में विश्वास रखते हैं।

व्यक्तित्व निर्माण

यह मनुष्य की चेतना का द्वैध है: क्या है और क्या होना चाहिए। यह दुविधा पशुओं में नहीं होती है। उस की दुविधा, कॉन्फ्लिक्ट, क्या है और क्या चाहिए के बीच है। जबकि मनुष्य में दुविधा क्या इच्छित है, और क्या इच्छित होना चाहिए के बीच है। क्या इच्छित है यह प्राकृतिक जीवन के अंतर्गत रहता है, जिस में हम पशु जगत के साथ हैं; किन्तु क्या इच्छा करनी चाहिए यह उस से परे जीवन की बात है।

बुराई के क्षेत्र में उस द्वैध का रूप मनुष्य की सब से बड़ी पीड़ा में व्यक्त होता है। प्रकृति की दुनिया और आत्मा की दुनिया का द्वैध। जो बुराई प्राकृतिक मनुष्य को चोट पहुँचाती है वह शारीरिक पीड़ा, किन्तु जो उस की आत्मा को चोट पहुँचाती है वह है पाप कर्म। चाहे उस से पीड़ा महसूस न भी हो रही हो, पर वह है बुराई ही। जैसे भ्रूण को अंधेपन या लंगड़ेपन से कोई पीड़ा नहीं होती, परन्तु जन्म के बाद भी वह बनी रहे तब वह एक बड़ी बुराई बन जाती है।

मानव शिशु एक व्यक्तित्व है। जन्म के बाद, अपनी स्वतंत्रता के माध्यम से, माता के साथ प्रेम के अंतर्संम्वाद से शिशु को अपने व्यक्तित्व की संपूर्ण चेतना का आनन्द मिलता है। माता का प्रेम ही उसे उस की दुनिया का अर्थ देता है। यदि शिशु केवल खाने वाला जीव होता तो उसे भौतिक दुनिया से जोड़ देना पर्याप्त होता, जिस से वह बढ़ता रहता। किन्तु मानव शिशु एक व्यक्तित्व है, और व्यक्तित्व को उस की संपूर्ण अभिव्यक्ति की आवश्यकता है।

हमें सर्वोच्च आनन्द प्रेम में मिलता है। मैत्री में एक इच्छा दूसरी इच्छा से पूर्ण स्वतंत्रता में मिलती है, किसी जरूरत या भय के दबाव से नहीं। इसलिए इस प्रेम में हमारे व्यक्तित्व को संपूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

हम इस जगत में केवल इसे जानने के लिए नहीं, अपितु इसे स्वीकार करने के लिए भी आए हैं। जानकारियों से हम शक्तिशाली बन सकते हैं, किन्तु सहानुभूति से ही हम पूर्ण बनते हैं। सर्वोपरि शिक्षा वही है जो हमें केवल जानकारी ही नहीं देती, अपितु हमारे जीवन को संपूर्ण अस्तित्व से सामञ्जस्यपूर्ण भी बनाती हो। किन्तु हमारे स्कूलों में शिक्षा इस तरह दी जाती है मानो हमारे जीवन को प्रकृति से खींच कर दूर ले जाना हो। हमारे मन और विश्व को आरंभ से ही एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर दिया जाता है। इस प्रकार जिस महानतम शिक्षा के लिए हम तैयार होकर आते हैं उस की उपेक्षा होती है, और थैले भर जानकारियों के बदले हमारा जगत हम से छुड़ा लिया जाता है।

अभाव हमें जीवन और जगत के प्रति संपूर्ण संपर्क में लाता है, क्यों कि धनाढ्यता में जीना अधिकांशत: दूसरों के माध्यम से जीना है, और इस प्रकार कम वास्तविकता में जीना है। यह किसी के सुख और अहंकार के लिए अच्छा हो सकता है, किन्तु किसी की शिक्षा के लिए नहीं। वैभव एक सुनहरा पिंजरा है जिस में धनिकों के बच्चे उन की प्राकृतिक क्षमताओं को कृत्रिम रूप से जड़ बनाते हुए पाले जाते हैं। वे प्रकृति का वैयक्तिक अनुभव करने में बाधित किए जाते हैं।

मनुष्य को अपने जीवन की एक सीमित अवधि प्राकृतिक प्राचीन मनुष्य की तरह जीने के लिए विशेषत: सुरक्षित करना चाहिए।

पारंपरिक बातों और चीजों की सभ्य दुनिया मनुष्य की प्रगति के बीच के दौर में आती है। यह न आरंभ में, न अंत में रहती है। इस की भारी-भरकम जटिलताओं और तौर-तरीकों का अपना उपयोग है। किन्तु जब इसी को अंतिम

बना लिया जाता है, और नियम जैसा तय कर दिया जाता है कि इन के शोर-शराबे और धुँएं, सजावटी लकदक विधानों से अलग कोई हरा-भरा स्थान नहीं रहने दिया जाएगा, तब बच्चे पीड़ित होते हैं, युवाओं में दुनिया से थकावट सी पैदा होती है, और बूढ़े शान्ति और सौंदर्य में बूढ़ा होना भूल जाते हैं। वे खंडहर होते युवा भर रह जाते हैं, अपनी बढ़ती आयु के अस्त-व्यस्त से परिधान से शर्मिन्दा होते जिस में कई छेद और पैबंद हो गये हैं।

हालाँकि, यह निश्चित है कि बच्चों ने कभी ऐसी दबी-घुटी, सलीकों से पर्देबंद दुनिया की चाह नहीं की थी जब वे धरती पर जन्म लेने की तैयारी कर रहे थे। यदि उन्हें तनिक भी पता होता कि सूर्य के प्रकाश में अपनी आँखें खोलने के बाद वे जल्द ही तब तक शिक्षा विभाग के हवाले कर दिए जाएंगे जब तक कि वे अपनी सारी मानसिक ताजगी और उत्सुक संवेदना खो न दें, तब वे मानवता के कैरियर में कदम रखने का साहस करने से पहले दो बार सोचते।

हमारे स्कूलों में विश्व की संपूर्णता नहीं है। वे केवल बने-बनाए पाठ देने वाली विशेष व्यवस्थाएं मात्र हैं।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य का एकत्व प्रदान करना है। पहले जब जीवन सरल था मनुष्य के सभी तत्व सामञ्जस्य में थे। किन्तु जब बौद्धिक का आध्यात्मिक और शारीरिक तत्वों से विलगाव हुआ, तब स्कूली शिक्षा ने पूरा ध्यान मनुष्य के बौद्धिक और शारीरिक भाग पर लगाया। हम बच्चों को तरह-तरह की जानकारियाँ देने पर ही ध्यान रखते हैं, यह न जानते हुए कि ऐसी एकांगिता से बौद्धिक, शारीरिक, और आध्यात्मिक जीवन में विलगाव बढ़ता जाता है।

उन देशों में जहाँ लोगों को वैश्विक भौतिक खोज की अंतहीन संभावनाएं, सुविधाएं मिली हुई हैं वे अपनी शिक्षा को उस पर केंद्रित कर सकते हैं। उन के जीवन का विस्तार विविध और काफी खुला है जिस से उन्हें अपनी क्षमताओं के विकास की स्वतंत्रता मिली हुई है। परन्तु हमारे लिए अपना आत्मसम्मान बनाए रखने में जिस के लिए हम अपने प्रति और ईश्वर के प्रति उत्तरदाई हैं, हम अपनी शिक्षा को मनुष्य के सर्वोच्च उद्देश्य से नीचे नहीं रख सकते, जो अपनी आत्मा का संपूर्ण विकास और स्वतंत्रता है।

भारत में इस आध्यात्मिक विवेक की विरासत रही है। इसे हमारे समक्ष खोलना हमारी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। ताकि हमें अपने जीवन में इस

का सच्चा उपयोग करने की शक्ति मिल सके। तभी आगे चल कर वह हम शेष विश्व को भी दे सकते हैं जो शाश्वत कल्याण में हमारा योगदान हो सकेगा। मैंने यह स्पष्ट समझा है कि कोई विशेष भौतिक उद्देश्य नहीं, आराम और ताकत जुटाना नहीं, बल्कि अपनी आत्मा की स्वतंत्रता के प्रति पूरी तरह सजग होना ही हमारे लिए आवश्यक है।

समुचित शिक्षण-पद्धति

हमारे देश में बच्चों के आत्मकर्तृत्वबोध को असुविधाजनक औद्धत्य मान कर सदा दबाने की कोशिश होती है। इस के फलस्वरूप उन के मन से परनिर्भरता की लज्जा चली जाती है व दूसरों के पास माँगने की वृत्ति प्रोत्साहित होती है। भिक्षुकता के क्षेत्र में उन लोगों का अभिमान प्रबल होता है और दूसरों की त्रुटियों को लेकर कलह करने में वे आत्मप्रसाद लाभ करते हैं। आज इस लज्जा-जनक दीनता का निदर्शन विद्यार्थियों के चारों तरफ परिदृश्यमान है। इस से छुटकारा मिलना चाहिए। विद्यार्थियों को यह साफ समझना चाहिए कि जहाँ बात-बात में शिकायत गूँज उठती है, वहाँ स्वयं अपनी लज्जा का कारण संचित होता है, व आत्मसम्मान की बाधा।

प्राय: हमारे विद्यार्थी समझते हैं कि सिर्फ निष्क्रिय भोक्ता का अधिकार उन का है और सभी चीजों की व्यवस्था का काम दूसरों का। इस प्रकार के बच्चे बड़े होने पर सभी काम-काजों में निरंतर असंतोष प्रकट करते हुए अपनी मज्जागत अकर्मण्यता की लज्जा को दसों दिशाओं में गुंजरित करते हैं।

वस्तुओं का कुछ अभाव रहना अच्छा है, स्वल्प में ही काम चलाने का आदी होना चाहिए। किसी प्रकार का प्रयत्न किए बिना सभी जरूरतों की पूर्ति करके बच्चों के मन को अनावश्यक लाड़ करने से उन की क्षति होती है। बच्चे सहज ही इतना कुछ नहीं चाहते - वे आत्मतृप्त होते हैं। हम ही लोग प्रौढ़ों की इच्छा को उन के ऊपर लाद कर उन को वस्तुओं का नशा लगा देते हैं।

अत: वास्तव में आरंभ से ही यह शिक्षा देने की जरूरत है कि कितना कम लेकर वे काम चला सकते हैं। बाहर की सहायता जहाँ कम से कम होती है, शरीर तथा मन की शक्ति का सम्यक अभ्यास वहीं सही ढंग से होता है। वहाँ मनुष्य का सृष्टि-उद्यम सहज जागरित होता है। जिन का सृष्टि-उद्यम नहीं जगता है, प्रकृति उन को कूड़े-कचरे की तरह फेंक देती है।

आत्मकर्तव्य का प्रधान लक्षण सृजन कर्तव्य होता है। वही मनुष्य सही माने में सम्राट है जो अपने साम्राज्य की स्वयं सृष्टि कर लेता है। हमारे देश में स्त्री जाति के हाथों में अतिलालित बच्चे मनुष्योचित उस आत्मप्रवर्तना के अभ्यास से शुरू से ही वंचित रह जाते हैं। इसलिए हम लोग दूसरों के कड़े हाथों के दबाव से दूसरों की इच्छा के साँचे के अनुसार रूप ग्रहण करने के लिए कीचड़ जैसे अत्यंत लचीले ढंग से तैयार होते हैं। इसीलिए हम लोग दफ्तरों के निम्नतम विभाग में आदर्श कर्मचारी बन जाते हैं।

शिक्षक होने की पात्रता केवल उन में होगी जो धैर्यशील होते हैं व बच्चों के प्रति जिन के मन में एक सहज स्नेह भाव है। शिक्षकों के अपने चरित्र के संबंध में एक बड़े खतरे की बात यह है कि जिन के साथ उन का व्यवहार चलता है, वे क्षमता में उन के समकक्ष नहीं होते हैं। थोड़ी सी बात के लिए उन लोगों के प्रति असहिष्णु होना, उन को अपमानित करना व सजा देना बहुत ही आसान होता है। जिस के बारे में निर्णय करना है वह यदि शक्तिहीन हो तो सहज ही गलत निर्णय करने का डर रहता है। ... राष्ट्र-व्यवस्था में हो या शिक्षा-व्यवस्था में, कठोर शासन-नीति शासनकर्ता की ही अयोग्यता का द्योतक होता है।

प्रार्थना और ध्यान

मैं ध्यान करने के समय में विश्वास करता हूँ, और इस के लिए अपने विद्यालय में प्रात: 15 मिनट और संध्या 15 मिनट तय रखा है। इस ध्यान काल पर मैं बल देता हूँ, यह अपेक्षा नहीं करता कि बच्चे यांत्रिक ध्यान के नाम पर पाखंड करें। पर यह अपेक्षा अवश्य करता हूँ कि वे मौन रहें, आत्मनियंत्रण का प्रयास करें, चाहे वे ईश्वर पर ध्यान के बदले पेड़ पर गिलहरियों का चढ़ना ही देख रहे हों।

बच्चों की ग्रहण क्षमता अपनी-अपनी होती है। कई विफल भी होते हैं। गलत काम भी बीच-बीच में दिखते हैं। पर ऐसे विरोध और भटकाव भी वास्तविकता के ही पक्ष हैं। जीवन्त आदर्श किसी बनी-बनाई घड़ी जैसे नहीं रखे जा सकते, जहाँ हरेक सेकेंड में सही हिसाब हो। जिन्हें अपने आदर्श पर पक्का विश्वास हो उन्हें उस की सच्चाई विरोधों, विफलताओं में परखना ही होगा।

मेरा विश्वास है कि शिक्षा का उद्देश्य मस्तिष्क की स्वतंत्रता है जो स्वतंत्रता के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है - यद्यपि स्वतंत्रता के अपने खतरे और दायित्व हैं जो स्वयं जीवन के भी होते हैं।

बच्चे जीवन्त प्राणी हैं – वयस्क लोगों से अधिक जीवन्त जिन्होंने अपने को अपनी आदतों के खोल में घेर लिया होता है। अत: बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए बिलकुल आवश्यक है कि उन्हें केवल स्कूल और पाठ ही न मिले, अपितु ऐसी दुनिया भी जो वैयक्तिक प्रेम के निर्देश से चल रही हो।

यह ऐसा आश्रम हो जहाँ लोग प्रकृति की शान्ति में जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य से एकत्र हुए हैं; जहाँ जीवन केवल ध्यान ही नहीं है, बल्कि विविध क्रियाकलापों में जीवन्त है, जहाँ बच्चों के दिमाग में मशीन से किसी जड़ देश-पूजा ('self-idolatry of the nation') का आदर्श सदैव न भरा जा रहा हो; जहाँ उन्हें ईश्वर के साम्राज्य में मनुष्य की दुनिया उपलब्ध करने की प्रेरणा मिलती हो जिस के ही नागरिक बनने की उन्हें अवश्य चाह हो; जहाँ सूर्योदय सूर्यास्त और तारों के मौन ऐश्वर्य की नित्य उपेक्षा न होती हो; जहाँ मनुष्य द्वारा प्रकृति के फूलों और फलों का उत्सव पहचाना जाता हो; और जहाँ बच्चे और बड़े, शिक्षक और विद्यार्थी साथ ही एक टेबल पर बैठकर अपना दैनिक भोजन और शाश्वत जीवन का भी भोग करें।

बच्चों को विद्यारंभ के समय अपने पूरे मन से, सच्ची श्रद्धा से यह बताना चाहिए कि आज से तुम लोगों ने सत्यव्रत को ग्रहण किया है। हर प्रकार के मिथ्या को मन, वचन और कर्म से दूर रखो। सब से पहले सत्य को जानने के लिए नम्रता के साथ सारा मन, अपनी सारी प्रवृत्तियों और बुद्धि को प्रेरित करो और उस के बाद तुम जिसे सत्य के रूप से जानोगे निर्भय वृत्ति और तेजस्विता के साथ उस की घोषणा और पालन करना।

उन्हें बताना चाहिए कि आज से तुम लोगों ने अभयव्रत को ग्रहण किया है। इस संसार में एकमात्र धर्म को छोड़ कर किसी प्रकार का भय तुम लोगों के लिए नहीं रहा। न आपदा का भय, न मृत्यु का भय, न दुख-कष्ट का भय। सदा-सर्वदा, दिन और रात प्रफुल्ल चित्त से प्रसन्नता के साथ, श्रद्धा के साथ सत्य की प्राप्ति के लिए, तुम अपने को नियुक्त रखोगे।

उन्हें बताना चाहिए कि आज से तुम लोगों ने पुण्यव्रत को ग्रहण किया है। जो अपवित्र है, कलुषित है, जिसे प्रकट करने में हमें लज्जा का अनुभव होता है, उसे प्राणांत प्रयत्न से शरीर और मन से दूर करके प्रभात की ओस से सींचे हुए फूल जैसे पुण्य के मार्ग में विकसित होते रहो।

उन्हें बताना चाहिए कि आज से तुम लोगों ने मंगल-व्रत को ग्रहण किया है। जिस में सब की भलाई है, उसी में अपना कर्तव्य समझना। इसलिए आज से अपने सुख और स्वार्थ का विसर्जन हुआ ऐसा मानो।

एक वाक्य में, उन्हें बताना चाहिए: आज से तुम लोगों ने ब्रह्म-व्रत को ग्रहण किया। अंदर और बाहर सदा-सर्वदा सब स्थानों में एक ब्रह्म विराजमान हैं, उन से तुम कुछ नहीं छिपा सकते, तुम्हारे मन के अंदर स्तब्ध होकर वे सब कुछ देख रहे हैं, तुम जहाँ भी रहो, सोओ, बैठो, या चलो, तुम उन्हीं में हो। उन्हीं में संचरण कर रहे हो। तुम्हारे सब अंगों में उन का स्पर्श है, तुम्हारे सब चिंतन उन के सामने हैं। वे ही एकमात्र अभय हैं।

प्रतिदिन कम से कम एक बार उन का ध्यान करो, उन के ध्यान से जिस मंत्र का हमारे प्राचीन ऋषिगण प्रतिदिन जगदीश्वर के सामने खड़े होकर उच्चारण करते थे, हे सौम्य माणवकगण, तुम भी मेरे साथ इस मंत्र का उच्चारण करो -

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत् सवितुर्वरिण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्।

ध्यान का एक पाठ

ॐ का अर्थ है संपूर्णता। यह वस्तुतः सांकेतिक शब्द है, जिस का अर्थ है असीम, त्रुटिहीन, शाश्वत। इस की ध्वनि स्वयं संपूर्ण है, सभी चीजों की संपूर्णता की प्रतीक।

हमारे सभी ध्यान ॐ से आरंभ और अन्त होते हैं। इस का उपयोग इसलिए ताकि मन असीम संपूर्णता के भाव से भर जाए और संकीर्ण स्वार्थ की दुनिया से मुक्त हो जाए।

भूर् का अर्थ यह धरती। *भुवः* का अर्थ मध्य क्षेत्र, आकाश। *स्वः* का अर्थ तारों का क्षेत्र।

यह धरती, आकाश, और तारों का क्षेत्र। आप को अपने मन को इस इस ब्रह्माण्ड के हृदय में स्थिर करना है। यह महसूस करना कि आप असीम में पैदा हुए हैं, कि आप इस धरती पर किसी विशेष स्थान से ही जुड़े नहीं हैं अपितु संपूर्ण जगत से।

तत् सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि– मैं जगत रचनाकर्ता की आराधनीय ऊर्जा का ध्यान करता हूँ। यह शब्द 'रचनाकर्ता' निरंतर प्रयोग से अर्थ में धूमिल हो गया है। पर आप को संपूर्ण विराट को अपने सचेत ध्यान में लाना होगा कि, और फिर कहना कि ईश्वर अपनी असीम रचनात्मक शक्ति से यह जगत प्रतिक्षण बनाते रहते हैं, न कि किसी एक बार के काम से। यह सब रचनाकर्ता की असीम इच्छा का प्रतीक है। यह कोई गुरुत्वाकर्षण का नियम या ऐसी अमूर्त चीज नहीं जिस की मैं अभ्यर्थना नहीं कर सकता, और जो हमारी अभ्यर्थना का अधिकार नहीं रखता। बल्कि यह पाठ कहता है कि वह शक्ति 'आराधनीय' है, कि वह हमारी आराधना का अधिकार रखता है क्योंकि यह किसी सर्वोच्च पुरुष की शक्ति है, यह कोई अमूर्त मात्र नहीं है।

इस शक्ति की अभिव्यक्ति क्या है? एक ओर यह धरती, आकाश, तारों के क्षेत्र हैं; दूसरी ओर हमारी चेतना है।

मेरे और इस जगत के बीच एक शाश्वत सम्बन्ध है, क्योंकि इस जगत का दूसरा पक्ष मेरी चेतना में है। यदि कोई सचेतन अस्तित्व न होता और कोई सर्वोच्च चेतना न होती, तो एक जगत नहीं होता।

ईश्वर की शक्ति मुझ में और बाहर जगत में भी चेतना के रूप में आभासित और प्रवाहित होती है। हम ही सामान्यत: इसे विभाजित करते हैं, किन्तु सृष्टि के यह दो पहलू गहराई से संबद्ध हैं क्योंकि दोनों एक ही स्त्रोत से चलते हैं।

इस प्रकार, इस ध्यान का अर्थ है कि मेरी चेतना और मुझ से बाहर यह विराट विश्व एक है। और वह एकत्व कहाँ पर है?

उस महान शक्ति में, जिस ने मुझ में, और बाहर विश्व में भी चेतना फूँकी है।

इस पर ध्यान करना कुछ मेरे अंदर ले जाना नहीं है, बल्कि अपना त्याग कर संपूर्ण सृष्टि से एकात्म हो जाना है।

तो यह हमारा पाठ है और हम अपना ध्यान इस पर केंद्रित करते हैं – बार-बार दुहराते हुए जब तक हमारे मन स्थिर न हो जाएं और विविध भटकाव हमें छोड़ न दे। तब कोई कमी, हानि नहीं रहती, कोई भय नहीं, कोई कष्ट नहीं जो हमें प्रभावित कर सके – हमारा संबंध लोगों के साथ सरल हो जाता है, स्वाभाविक – हम मुक्त हो जाते हैं। यही यह ध्यान है – इस सत्य में उतर जाना, इस में जीना, चलना, इस में स्वयं को रखना।

धियो यो नः प्रचोदयात् – वह हमारी धी शक्ति को प्रेरित कर रहा है। जिस ने विश्व ब्रह्मांड को अखंड बनाकर रखा हुआ है, उस के अलावा मुझे ज्ञान और कहाँ से मिलेगा। किन्तु उस के साथ मुझे यह बोध भी मिल रहा है कि यह ज्ञान मुझे उसी से मिल रहा है।

आप को एक अन्य पाठ के बारे में बताता हूँ जो हम अपने स्कूल में बच्चों को ध्यान और दैनिक प्रार्थना करने लिए उपयोग करते हैं – *ॐ पिता नोऽसि, पिता नो बोधि। नमस्तेस्तु। पिता नोऽसि।*

पिता नोऽसि – तुम हमारे पिता हो। इस में भक्ति का कोई दावा नहीं है, उन्मत्तता को कोई प्रश्रय नहीं है। अत्यंत संयत, आत्मसंवरण युक्त, विनम्र नमस्कार मात्र है। ऐसा कहने वाले उन के सामने *'शान्तोदांत उपरतिस्तितिक्षुः समाहितः'* रहते हैं। वह हर क्षुद्र अधैर्य, क्षुद्र आत्म–विस्मृति से अपनी रक्षा करता हुआ चलता है।

पिता नो बोधि – हमें बोध प्रदान करो। चेतना, इस में मुझे जगाओ कि तुम हमारे पिता हो। मुझे बोध दो। तुम्हारे स्मरण से हम अपने मन को नम्र बना लेते हैं। प्रतिदिन की क्षुद्रता हमें उद्धतता की ओर ले जाती है। तुम्हारे चरणतल में पहुँचकर मैं अपने को एकदम पूरी तरह भूल जाना चाहता हूँ। अपनी इस क्षुद्र सीमा में मैं अपने को बड़ा समझने लगता हूँ और पग–पग पर दूसरों को आघात पहुँचाने लगता हूँ। अपने प्रेम से मुझे पराभूत कर दो। हे परमलोक के पिता! तुम मुझे इस मृत्यु (जगत) में मत बना रहने दो; प्रेम से, भक्ति से विनत होकर मैं तुम्हें नमस्कार कर रहा हूँ और उसी नमस्कार द्वारा मैं रक्षा प्राप्त कर लेता हूँ। ऐसा न हो तो मुझे दुःख पाना ही होगा, वासना के आघातों को सहन करना ही होगा, अहंकार की पीड़ा प्रतिदिन जीवन को बोझीला बनाएगी–ही–बनाएगी। जब तक अपनी क्षुद्र सीमा में कैद हूँ, तब तक पाप पूँजीभूत होकर विकट मूर्ति धारण कर चारों दिशाओं को विभीषिकामय बनाएगा–ही–बनाएगा।

नमस्तेस्तु – नमः के लिए अंग्रेजी में कोई उपयुक्त प्रतिशब्द नहीं है, यद्यपि झुकना और नमस्कार करना इस का निकट अर्थ देता है। मेरा तुम्हें नमस्कार है – यह सत्य हो जाए।

इस प्रकार, पाठ आरंभ होता है यह कहने से कि ईश्वर ही हमारे पिता हैं। किन्तु यह सत्य हमारे जीवन में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, और यही हमारी अपूर्णताओं, दुखों, पापों का कारण है। इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि हम इसे

अपनी चेतना में उपलब्ध करें। फिर यह अंत होता है नमस्ते से। मेरा नमस्कार सत्य हो जाए। क्यों कि यह नमस्कार ही सत्य भाव है। जब मैंने यह महान सत्य पूरी तरह उपलब्ध कर लिया, – *पिता नोसि* – तब मेरा जीवन अपने सत्य को इस नमस्ते से अभिव्यक्त करता है, इस की विनम्रता से, इस के आत्म–समर्पण से, आराधना के शान्त भाव में।

यदि हम इस जगत को केवल विविध शक्तियों के संयोजन जैसा मात्र देखें तब इस में किसी आराधना का प्रश्न ही नहीं हो सकता। किन्तु हम केवल भौतिक या मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। हम पुरुष और स्त्री हैं। और इस जगत में इस का असीम अर्थ हमें पाना होगा, कि हम मनुष्य हैं। मेरे व्यक्तित्व का तथ्य उस असीम व्यक्तित्व के सत्य में समर्थन पाता है। हम हमारे अंदर के 'मैं' से इस महान खोज तक पहुँचते हैं कि कोई असीम 'मैं' भी अवश्य है।

फिर प्रश्न उठता है कि 'हम उस से कैसे जुड़ते हैं ?'। मनुष्य अपने अंतरतम में पाता है, कि यह सब से निकट का संबंध – प्रेम का संबंध है। राजा और प्रजा, मालिक और नौकर, कानून बनाने वाला और उस का पालन करने वाला – यह संबंध किसी विशेष उपयोग के लिए होकर आंशिक हैं। जिस में संपूर्ण व्यक्तित्व नहीं जुड़ता। किन्तु इस वैयक्तिक 'मैं' का उस असीम व्यक्तित्व से संपूर्ण संबंध बनता है। इस से भिन्न नहीं हो सकता है। क्यों कि हम प्रेम करते हैं और उस में ही अपने व्यक्तित्व की असीम संतुष्टि पाते हैं। इसलिए हम जान जाते हैं कि उस असीम व्यक्तित्व से हमारा संबंध प्रेम का ही है। अर्थात् उस में कुछ है जिस का हम साझा करते हैं – जो उस शाश्वत व्यक्ति और इस ससीम लघु व्यक्ति में सामान्य है।

संस्कृत में पिता शब्द में माता भी निहित है। प्राय: हम इस का द्वैध अर्थ में प्रयोग करते हैं 'पितर', अर्थात पिता और माता। मनुष्य माता की बाँह में ही जन्म लेता है। हम वर्षा की बूँदों की तरह किसी घटा से नहीं उतर आते। यह महान तथ्य है कि हम इस जीवन में पिता और माता की बाँहों में आए हैं। यह दिखाता है कि व्यक्तित्व का विचार पहले से उपस्थित हैं। यहीं पर हम असीम व्यक्तित्व से अपना संबंध पाते हैं। अत: मैं ईश्वर के बारे में और बातें नहीं जानता, किन्तु यह जानता हूँ कि तुम मेरे पिता हो।

पिता नो बोधि – हमें इस महान सत्य के प्रकाश में जगने दो कि – तुम मेरे पिता हो।

नमस्ते – तुम्हें नमन – यह सत्य हो। मैं असीम 'मैं हूँ' से जुड़ा हूँ और इसलिए मेरा सही भाव घमंड, या आत्मतुष्टि का नहीं, बल्कि आत्मार्पण का है। यह नमस्कार भी बड़ा मधुर होता है। यह पानी के भार से झुके हुए मेघ की तरह होता है, फलों के भार से झुके हुए वृक्ष की डाल की तरह, रस और मंगल से परिपूर्ण इस नमस्कार से जीवन कल्याण से भर उठता है। यही नहीं, इस में एक प्रबल शक्ति भी है। यह जैसे हमें अपनाता है, हमारे बोझ को लेकर चलता है, वैसे अहंकार नहीं कर पाता है। इसे कोई पराभूत नहीं कर सकता। जीवन इसी नमस्कार के द्वारा सारे आघात, क्षति, विपत्ति और मृत्यु पर बड़ी सहजता से विजय प्राप्त कर लेता है। इस नमस्कार से जीवन का सारा बोझ एक क्षण में हल्का हो जाता है, पाप उस के ऊपर से क्षणिक बाढ़ की तरह निकल जाता है, उसे भग्न कर नहीं जा पाता। इसीलिए प्रतिदिन प्रार्थना करता हूँ, 'नमस्तेस्तु'। मान आए या अपमान मिले: नमस्तेस्तु। तुम सीख दे रहे हो, इसलिए नमस्तेस्तु। तुम रक्षा कर रहे हो, यह जानकर तुम्हें नमस्कार। तुम नित्य, सतत मेरे पास हो, यह मान कर तुम्हें नमस्कार।

तुम्हारे गौरव से ही मेरा गौरव है यह जानकर तुम्हें नमस्कार है। अखंड ब्रह्माण्ड के अनन्त काल के अधीश्वर तुम्हीं हो, तुम्हीं पिता हो – यह जानकर नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु।

उपर्युक्त पूरा प्रार्थना-पाठ कहीं इकट्ठे नहीं है। यह हमारे प्राचीनतम वेदों और उपनिषदों में भिन्न भिन्न स्थानों से लिया गया है। तो, उस में अगली पंक्ति है: *मा मा हिंसी*

मा मा हिंसी – मुझ पर मृत्यु से चोट न करो। इस का अर्थ हमें पूरी तरह समझना होगा। यह सत्य है कि हम अपने पिता से शाश्वत जुड़े हैं, किंतु कुछ बाधाएं हैं जो इस सत्य को पूरी तरह उपलब्ध होने में रोकती हैं, और यही मनुष्य के कष्टों का सब से बड़ा स्त्रोत है। जीवन की पूर्ति के लिए बाधाएं आवश्यक हैं (ताकि उस से संघर्ष कर दूर करके सुख हो, जो पशु भी करते हैं)। परन्तु मनुष्य में शारीरिक कष्ट से भी गहरा कष्ट है, यद्यपि यह निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि हमें समय-समय पर इस की झलक मिलती रहती है। जब हम धन-संपत्ति में सराबोर रहते हैं, उन्नति करते रहते हैं, सुख-सुविधाओं में रहते हैं – जब दुनिया की चीजों से घिरे होते हैं – फिर भी मनुष्य कहीं अपने अंतर में महसूस करता है कि यह सब पर्याप्त नहीं है, और तब प्रार्थना उमड़ती है, धरती

की प्राकृतिक शक्तियों जैसे वायु, अग्नि से नहीं – बल्कि उस से जिसे मनुष्य ने पूरी तरह जाना नहीं है। प्रार्थना उमड़ती है 'मुझे बचाओ' – 'मुझे मृत्यु से न चोट पहुँचाओ।'

यह किसी भौतिक मृत्यु की बात नहीं है। हम तो जानते हैं कि हम मरेंगे ही, इसलिए पिता से प्रार्थना भौतिक मृत्यु से बचाव के लिए नहीं है। मनुष्य अपने अंदर सहज बोध से महसूस करता है कि यह जीवन अंतिम नहीं है, उसे किसी उच्चतर जीवन के लिए अवश्य प्रयत्न करना है। और तब वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि – मुझे इस मृत्यु के क्षेत्र में न छोड़ दे। इस से मेरी आत्मा संतुष्ट नहीं। मैं खाता हूँ, सोता हूँ, परन्तु संतुष्ट नहीं हूँ। मैं अपना कल्याण इस में नहीं पाता। क्षुधित हूँ। जैसे शिशु माता के द्वारा दिए भोजन के लिए रोता है और माता स्वयं अपने जीवन से वह उसे देती है, उसी तरह हम शाश्वत माता से पुकार करते हैं, 'मुझे मृत्यु से चोट न दो' अपितु वह जीवन दो जो तुम्हारे अपने स्वभाव से आता है। यह पुकार है। मेरी आत्मा मृत्यु से चोट खाती है क्योंकि इसे चौतरफा वातावरण से पुष्टि नहीं मिल रही।

मेरी रक्षा करो, मुझे बचाओ। प्रतिदिन के हाथ से, छोटे हाथों की मार से मुझे बचाओ। मैं बड़ा हूँ, मुझे मृत्यु के हाथ से, स्वार्थ के हाथों से, अहंकार के हाथ से, बचाकर ले चलो। तुम्हारे उसी पूर्ण प्रेम में मेरा जीवन जाना चाहता है; अपने को खंड-खंड कर प्रतिदिन अपनी अहमिका में चक्कर काटते रहने में मुझे कोई आनन्द नहीं मिल रहा है। *मा मा हिंसी*। मुझे विनाश से बचाओ।

विश्वनी देवा सवितुर दुरितानी परासुव।

हे देव! हे पिता! विश्व के पापों की मार्जना कर दो। उन्हें धो दो, पवित्र कर दो। विश्व के पापों को प्रक्षालित कर दो।

हम उन के सामने यह प्रार्थना नहीं कर पाते कि हमारे पापों को क्षमा कर दो; कारण, क्यों कि वे क्षमा नहीं करते हैं। उन के सामने तो यही प्रार्थना सच्ची है कि तुम मार्जना करो। जहाँ जो भी पाप हों, अकल्याण हो, बार-बार रक्त प्रवाह द्वारा, अग्नि वृष्टि द्वारा वहाँ पर वह मार्जना कर देते हैं। जो प्रार्थना क्षमा की याचना करती है वह तो दुर्बल की प्रार्थना होती है, एक भीरू की प्रार्थना होती है; वह प्रार्थना तो उस के द्वार तक पहुँच ही नहीं पाती है।

हे ईश्वर, मेरे पिता, मुझ से पापों का जगत हटा दो। इस आत्म (अहंकार) के जीवन में मनुष्य की आत्मा मानो किसी कैद से चोट खाती रहती है। वह

कहती है, 'मुझे अपनी प्रतिपूर्ति नहीं मिल रही'। इस से वह चोट महसूस होती है और हम कहते हैं 'इस कैद को तोड़ दो। मैं यह आत्म नहीं चाहता। यह पाप, यह स्वार्थी कामनाएं। मुझे अपने बालक सा स्वीकार करो – अपना बालक, न कि मृत्यु के जगत का बालक'।

यह हमारी प्रार्थना है जब हम अपने पिता में अपने जीवन की पूर्ण चेतना उपलब्ध करना चाहते हैं। स्वार्थ का जीवन ही सब से बड़ी बाधा है। इसलिए ईश्वर से मनुष्य की प्रार्थना भौतिक चीजों की नहीं, बल्कि परमपिता से संपूर्ण संबंध स्थापित करने की है।

यद् भद्रं तं न आसुव

जो शुभ है, कल्याणकर है वह, हमें दो।

यह एक कठोर प्रार्थना है। किंतु हम कितने भी दुर्बल क्यों न हों, हमें यह प्रार्थना करनी चाहिए।

मुक्ति केवल सुख उठाने में नहीं है। अपितु जब हम खतरे और मृत्यु, अभाव और दु:ख का सामना करते हैं, और फिर भी मुक्ति, फ्रीडम, महसूस करते हैं – जब हमें संदेह नहीं होता कि हम परमपिता में जी रहे हैं – तब सब कुछ प्रसन्नता के संदेश के साथ आता है। तब हम उसे विनम्रता और प्रसन्नता से, और झुक कर कृतज्ञता से स्वीकार करते हैं।

नम: शम्भवाय।

'मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ जिस से जीवन का आनन्द आता है।'

मयोभवाय च।

'मैं इसलिए भी तुम्हें नमस्कार करता हूँ जिस से जीवन का कल्याण नि:सृत होता है।' पिता केवल हमारे सुख की ही व्यवस्था नहीं करते, वे हमारे मंगल, हमारे कल्याण का भी विधान करते हैं। मंगल जीवन के सुख-दुख, हानि लाभ दोनों में है। तुम्हें नमस्कार करता हूँ जो कष्ट, दुख, और शोक देते हो।

नम: शिवाय च शिवतराय च।

'तुम्हें नमस्कार जो कल्याणकर हो, सर्वोच्च कल्याणकर हो।'

इस प्रकार, संपूर्ण प्रार्थना है।? पहला भाग चेतना प्रदान करने की प्रार्थना कि हम केवल धरती, वायु, और जल के जगत में नहीं जी रहे, बल्कि व्यक्तित्व

के वास्तविक जगत, प्रेम में भी जी रहे हैं। और जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम इस प्रेम में हैं – तब हम प्रेम से विलग जीवन का असामञ्जस्य अनुभव करते हैं। यह हम तब तक महसूस नहीं करते जब तक अपने परमपिता से संबंध की चेतना में नहीं आते। पर जब सचेत होते हैं तब वह असमंजस इतना तीव्र अनुभव होता है कि वह हमें चोट पहुँचाता है और उसे हम मृत्यु सा समझते हैं। तब वह विविध चीजों से मुक्ति और सर्वोच्च कल्याण की प्रार्थना आती है – अर्थात ईश्वर में मुक्ति। और फिर निष्कर्ष आता है। हम उन के समक्ष झुकते हैं, जिन में आत्मा का कल्याण है, जिन में कल्याण है। *ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: । ॐ।*

धर्म की शिक्षा

हम नये युग के मनुष्य हैं, हमारी जीवन यात्रा सरल नहीं। भोगों का आयोजन, प्रचुर अभिमान, धर्म जीवन हमारे लिए सामाजिकता का एक अंश मात्र है। इस तरह धर्म को अगर हम जीवन की एक श्रेणी में ढकेल कर फिर इस चिंता से उद्विग्न हों कि भद्रता की रक्षा के लिए बच्चों को थोड़ी-सी धर्म-शिक्षा किस तरह दी जाए, इस का सहज उपाय किस तरह निकाला जाए, तो इस का उत्तर देना कठिन होगा।

वस्तुत: जहाँ 'औरों को हम धर्म की शिक्षा देंगे', यह वाक्य प्रबल रहेगा वहाँ धर्म की शिक्षा कभी सहज नहीं होगी। जैसे कि दीप-शिखा दूसरों को प्रकाश देने के लिए व्यस्त होकर नहीं घूमती है – वह अपने-आप जितनी उज्जवल होती है उतनी ही दूसरों को प्रकाश देती है। धर्म के साथ भी यही बात है। यह आलोक जैसा स्वयंप्रकाश है। धर्म के क्षेत्र में देना या लेना एक ही प्रक्रिया है, और वह साथ-साथ चलती है।

हमारी आध्यात्मिक उपलब्धि में पाना और देना एक ही बात है। जैसा दीपक के साथ होता है जो स्वयं प्रकाशित होते हुए दूसरों को प्रकाश देता है। जब कोई व्यक्ति दूसरों को ईश्वर का उपदेश देने की आदत बनाता है तो वह सत्य का मार्ग दिखाने के बजाए धूल अधिक उड़ाता है। धर्म की शिक्षा पाठ याद कराकर नहीं हो सकती, वह तभी होती है जब कोई धर्म को जी रहा हो। अत: ईश्वर प्राप्ति के इच्छुकों के लिए आध्यात्मिक जीवन के विद्यालय के रूप में वन्य आश्रम का आदर्श आज भी उपयुक्त है। स्कूली पाठ्यचर्या में धर्म भी कोई टुकड़े-टुकड़े

साप्ताहिक या दैनिक बताने रहने का एक विषय नहीं है। यह तो हमारे संपूर्ण अस्तित्व का सत्य है, असीम के साथ हमारे वैयक्तिक संबंध की चेतना, हमारे जीवन का गुरुत्व केन्द्र। यह हम अपने बचपन में नित्य ऐसे स्थान पर जीते हुए पा सकते हैं जहाँ विविध आवश्यकताओं की कृत्रिम भीड़ से आध्यात्मिक जगत ओझल न कर दिया गया हो। जहाँ जीवन सरल हो, पूर्ण अवकाश, खुले स्थान और शुद्ध वायु और प्राकृतिक शान्ति से घिरा हुआ हो, और जहाँ लोग अपने सामने शाश्वत जीवन में पूर्ण विश्वास के साथ जी रहे हों।

एक सच्चे शिक्षक द्वारा बताई गई हरेक बात विद्यार्थियों का हू-ब-हू समझ लेना आवश्यक नहीं, बल्कि अधिक आवश्यक है उन का मन-मस्तिष्क जाग्रत हो जाना।

एक सच्चा शिक्षक अपने शिक्षण को वैयक्तिक बनाता है, वह स्वयं इस का स्त्रोत होता है, और इसलिए वह जीवंत होता है, जिसे जीवंत मानव स्वभाव सरलता से आत्मसात करता है। वैसे शिक्षक की सफलता का मुख्य कारण उस की जीवन में, विचारों में, आसपास की चीजों, और उस के संपर्क में आने वाले बच्चों में गहरी रुचि ही होती है।

हर हाल में, शिक्षा के आरंभिक काल में बच्चों को प्राकृतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्य के अपने पाठ तक पहुँचना चाहिए - प्रत्यक्षत: व्यक्तियों और वस्तुओं के द्वारा।

शारीरिक जीवन की शिक्षा

भारत की आध्यात्मिक अभीप्सा मुक्ति, या फ्रीडम रही है। मुझे बचपन में जो मंत्र दिया गया था वह तीन उपनिषदों से अलग-अलग लेकर जोड़ा गया था। आंतरिक मुक्ति के लिए अपने आध्यात्मिक पथ पर यह मेरा मार्गदर्शक रहा है। यह पाठ है: 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म। आनन्दरूपम् अमृतम् यदविभाति। शान्तम् शिवम् अद्वैतम्।'

मानवीय जगत में हमारे जीवन की सामान्य प्रक्रिया के लिए, अस्तित्व की बाहरी आवश्यकताओं के लिए जरूरी बाह्य स्वतंत्रता कानून-व्यवस्था उपलब्ध कराती है। परन्तु ज्ञान के गहरे क्षेत्र में संपूर्णता का आदर्श, विवेक, चेतन संबंधों के आंतरिक सामञ्जस्य में रहता है। इस आंतरिक सामञ्जस्य का चरित्र है शिवम्, अर्थात अच्छाई या प्रेम। बाहरी जगत में हम शान्ति की स्वतंत्रता कानून द्वारा पाते

हैं, अच्छाई या प्रेम द्वारा हम गहरे सामाजिक संबंधों की दुनिया में अपनी स्वतंत्रता पाते हैं। उपलब्धि की वह स्वतंत्रता हमें संभव होती है क्योंकि सर्वोच्च सत्य है शान्तम्, शिवम्, अच्छाई, प्रेम।

व्यक्ति के रूप में हम सभी एक जीव का एकताबद्ध रूप हैं, अपने आप में अलग। सामाजिक अस्तित्व के रूप में हम एक जटिल संरचना के भाग हैं जिसे हम मानवता कहते हैं। आध्यात्मिक अस्तित्व के रूप में हम उस परमसत्य से जुड़े हैं जो आनन्दम् है, आनन्द, शिव, अच्छाई, जो सर्वव्यापी है।

हर व्यक्ति जीव की अपनी आवश्यकताएं हैं, अपने संरक्षण की बुद्धि उसे मिली है। मनुष्य की शिक्षा में उस के वैयक्तिक जीवन के पूर्ण संरक्षण के प्रशिक्षण का स्थान होना चाहिए। अन्यथा वह न केवल असहाय हो जाता है, बल्कि आत्म-संरक्षण की उस की बुद्धि एकदम जंग खा सकती है। सामान्यत: हमारी शिक्षा प्रक्रिया में इस प्रशिक्षण की उपेक्षा होती है कि अपना शारीरिक जीवन कैसे जीना चाहिए। इसलिए हम शान्तम्, शान्ति, की कमी महसूस करते हैं। जिस पर ही (किसी के) सुगठित अस्तित्व की आत्म-निर्भर स्वतंत्रता निर्भर करती है।

हमारे वैयक्तिक जीवन का सामञ्जस्य हमारे सामाजिक जीवन से और इन दोनों का विराट मानव जीवन से होने के लिए आवश्यक है कि उस भावना और आपसी उत्तरदायित्व का प्रशिक्षण हो। हमारे शिक्षा संस्थानों में इस प्रकार के सामञ्जस्य के प्रशिक्षण और अनुभव को शायद ही कोई स्थान मिलता है। आत्मनियंत्रण का अनुशासन और अच्छे व्यवहार की आवश्यकता को जरूर स्वीकार किया जाता है किन्तु समाज की सेवा जिस के लिए सावधानी पूर्वक सटीक जानकारियों का संकलन और चयन आवश्यक है, तथा विविध प्रकार के भौतिक, नैतिक और बौद्धिक गुणों का अनुभव और प्रयोग उपेक्षित किया जाता है। किशोरावस्था के अनुभवों में इन के अभाव का परिणाम हम हर कहीं देखते हैं जब हम अपने परिवेश में गरीबी, बीमारी, अज्ञान, मानसिक और इच्छाशक्ति की दुर्बलता को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। उस के साथ ही अहंकार की आक्रामक भावना, संकीर्ण संप्रदायों, संस्थानों से जुड़ी आत्म-उद्धतता, और राष्ट्रवाद जो मानवीय दुनिया में सब से बुरे प्रकार के झगड़े और आध्यात्मिक अंधता पैदा करते हैं। सहानुभूतिपूर्ण समझ के प्रशिक्षण के इस अभाव में ही मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में सच्ची स्वतंत्रता के अभाव से पीड़ित होता है। जो कल्याण

एवं आपसी सहानुभूति एवं सहयोग के विस्तृत वातावरण की आवश्यकता की गहरी चेतना से आती है।

हमारी शिक्षा प्रक्रिया हमारे मस्तिष्क को सर्वोच्च सत्य के साथ हमारे गहरे आध्यात्मिक संबंध की उपलब्धि के लिए प्रशिक्षित करने के लिए कुछ नहीं करती। इस प्रशिक्षण के अभाव में हम तटस्थता की वह भावना विकसित नहीं कर पाते जो हमें वह वृहत् वातावरण देती है जिस में हमारा आंतरिक अस्तित्व एक स्वाभाविक निवासस्थान एवं कल्पनाशील रचनात्मकता की परिपूर्ति के लिए आकाश और अवकाश पाता है। साइंस, दर्शन, कला, और साहित्य की दुनिया में हमारी रचनाएं उसी प्रकार की तटस्थता के आकाश के नीचे अपने विकास की पूर्णता तक पहुँच सकती हैं।

उन लोगों का मस्तिष्क कुंद हो जाता है जो अपनी तात्कालिक या दैनिक आवश्यकताओं की प्राप्ति में जीवन की मिट्टी से ही निकट जुड़े रहते हैं। दृष्टि की स्वतंत्रता पाने के लिए मस्तिष्क को अमूर्तता की ऊँची हवा में भी उड़ना, असीम के ठीक हृदय में भी तैरना होगा। केवल उस का आनन्द लेने के लिए, और फिर वापस दुनिया के अपने नीड़ में।

सभी महान सभ्यताओं में ऐसा क्रम रहा है जिस में साहसिक मस्तिष्क ऊपर विराट आकाश में भेजे जाते हैं, और फिर नीचे आते हैं ठोस जमीन पर वापस। नीचे की ठोस धरती घुट कर मर जाए यदि उस से उस का वातावरण छिन जाए, चाहे वह वातावरण कितना ही अनिश्चित, अदृश्य और वायवीय लगता हो। आखिर यह वातावरण ही है जिस से हवा और प्रकाश से संवाद संभव होता है। उसी तरह, मनुष्य के मस्तिष्क को भी तटस्थता का अपना वातावरण प्राप्त करना ही होगा जहाँ तात्कालिक उद्देश्य दैनिक आवश्यकताओं का उत्पादन कभी नहीं हो सकता, अपितु उन सभी रचनाओं के लिए जीवन लगाना जिस में मनुष्य की असीम क्षमता सर्वोत्तम अभिव्यक्त होती है, चिंतन, भावना, और इच्छा के क्षेत्र में।

हमारा आदर्श होना चाहिए कि परमसत्ता के साथ अपने आध्यात्मिक संबंध के उस विकास के लिए अपने घरों और स्कूलों में पर्याप्त व्यवस्था रखें। वही हमें जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता का सर्वश्रेष्ठ भाव दे सकता है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि असीम की गहरी चेतना से विहीन जीवन स्वतंत्रता के नाम पर केवल दासता के नये और विविध रूप पनपा सकता है।

एक आदर्श शिक्षण संस्थान के लिए यह बात ध्यान रखने की है कि भारत के धर्म जीवन का स्थाई आदर्श मुक्ति रहा है?, मानव आत्मा की क्षुद्र अहंता से मुक्त होना, जगत के साथ आनन्द का संबंध रखने में असीम परमात्मा के साथ सहभाव। आध्यात्मिक सामञ्जस्य का यह धर्म कोई जड़ मतवादी पाठ नहीं जिसे प्रतिदिन आधे घंटे किसी कक्षा में पढ़ाया जाए। यह तो आध्यात्मिक सत्य और हमारे वातावरण के प्रति हमारे रुख का सौंदर्य है,असीम के साथ हमारा सचेतन संबंध, हमारे जीवन के भंगुर क्षणों में शाश्वत की स्थाई शक्ति?। धर्म का ऐसा आदर्श तभी उपलब्ध हो सकता है जब विद्यार्थियों को प्रकृति के निकट संसर्ग में जीने की व्यवस्था हो, सभी प्राणियों की सेवा के वातावरण में नित्य बढ़ने, चिड़ियों और पशुओं को खिलाने, मिट्टी और जल और वायु के अगाध रहस्य को महसूस करना सीखने की व्यवस्था हो।

ऐसे केन्द्र में जीवन सरल और स्वच्छ होना चाहिए। हमें कभी यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि सरल जीवन हमें हमारे युग के समाज के लिए अनुपयुक्त बना सकता है। जीवन के प्रारंभिक दौर में हमारे स्वभाव को एक आध्यात्मिक आदर्श के शुद्ध, त्रुटिहीन स्वर की आवश्यकता है। ताकि बाद के वर्षों की जटिलताओं के लिए हमें तैयार करे। इस का लक्ष्य एक संपूर्ण मानव में प्राण फूँकना होना चाहिए, जो बौद्धिक और आर्थिक दोनों हो: सामाजिक संबंधों से जुड़ा हो, किन्तु आध्यात्मिक मुक्ति और अंतिम संपूर्णता की अभीप्सा रखता हो।

लय और शिक्षा

छोटे बच्चे जब कुछ व्यक्त करते या संप्रेषित करना चाहते हैं तो मानो उन का पूरा शरीर बोलता है। मुझ से नन्हीं पूपी (दत्तक पौत्री) मानो कहना चाहती है: जीवन मधुर है, जीवन सुंदर है। पर चूँकि उस के पास अभी शब्दों की भाषा नहीं है तो उस का लघु मस्तिष्क, अपने अंतर तक आंदोलित होकर, नृत्य जैसी जटिल गतिविधि में फूट पड़ता है। उस का पूरा शरीर मानो संगीत पर थिरक उठता है।

छोटे बच्चों में पूरा शरीर अभिव्यक्त करता है। यह स्कूल जाना है जहाँ पहला गलत कदम उठता है। जहाँ उस से स्थिर बैठे रहकर ही सोचना, कहना अपेक्षित होता है। विवश होकर बच्चे जल्द ही बैठे रहकर ही विचार ग्रहण करने की आदत बना लेते हैं। तब शरीर के सहयोग बिना ही उन के मस्तिष्क को सोचना

होता है। फलतः शरीर अपने महान भागीदार, मस्तिष्क, को उस के काम में सहयोग न देने देने के कारण उपेक्षित महसूस करता है। उस से हमारा मन-मस्तिष्क भी हानि सदा उठाता रहता है। इस का अर्थ यह नहीं कि कुछ विशेष प्रकार के सोचने के लिए शरीर को स्थिर रखना आवश्यक नहीं है। किन्तु रचनात्मक कार्यों में मस्तिष्क केवल संयोजक का काम करता है, और हम सर्वोत्तम काम सोचते और अभिव्यक्त करते हुए करते हैं।

जब हम केवल शब्दों से अपने को अभिव्यक्त करने की कोशिश करते हैं तो हम अधूरा महसूस करते हैं। पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए हाथ और पैरों की हरकत भी निश्चित रूप से होनी चाहिए। कवि या संगीतकार अपना काम करते हुए हाव-भाव बनाता रहता है। वह अपने हाथ या बाँह हिलाता और चेहरे पर मुद्राएं बनाता है। चाहे आधे-अधूरे, क्योंकि स्कूल ने उसे मन और शरीर की सहज भागीदारी को रोकने की आदत पूरी तरह से सिखा दी है। उस का शरीर विधवा की तरह उपेक्षित महसूस करता है, क्योंकि उस ने नाचते या घूमते हुए संगीत रचने या सोचने की कला खो दी है। फलतः संपूर्ण शरीर से, जो गति के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए बनाया गया है, अपने जीवन का एक सब से महत्त्वपूर्ण काम, अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति, छूट जाती है। शरीर दुर्बल होता है, केवल चेहरे की हरकत से अभिव्यक्त करने की कुछ क्षमता और स्वतंत्रता बचती है।

इस प्रकार, पूरे शरीर की वह शक्ति और स्वतंत्रता हम ने जानबूझकर काट-छाँट दी है, और हम ने अपने बच्चों को भी दोनों सामर्थ्य से वंचित कर दिया है। फलतः शरीर अपने अन्य उपयोगितावादी काम तो करता रहता है, किन्तु उस का सौंदर्य, ग्रेस, उस से छूट जाता है।

हम अभिनेताओं के कार्य देखते हुए वह सब करने का काल्पनिक, वैकेरियस, सुख उठाते हैं। मानो हम कुछ विशिष्ट व्यवसायी अभिनेताओं को ही अपने पूरे शरीर की हरकतों के साथ अभिव्यक्त करना सहज और ठीक मानते हैं। अतः हमें गहराई से सोचने की आवश्यकता है कि क्या अपने शरीर और अपने मन-मस्तिष्क के बीच कोई नये प्रकार की संगति नहीं बना सकते।

मेरी सलाह है कि स्कूलों में सभी बच्चों के लिए नाटक और मुख-मुद्राएं बनाने की कलाओं में भाग लेना अनिवार्य कर देना चाहिए। नाट्य मंचन शिक्षा

का एक नियमित विषय होना चाहिए। अपने शरीर की संपूर्ण और सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति के द्वारा अपनी भावनाएं व्यक्त करने का अवसर बच्चों को देना आवश्यक है। अभिव्यक्ति के लिए पूरे शरीर के उपयोग की क्षमता को खत्म होने की अनुमति कभी नहीं देनी चाहिए। जीवन संपूर्णता में होना चाहिए, सभी विभिन्न क्षमताओं और कार्यों में एक सामञ्जस्य। स्कूल के जीवन में कुछ भी जड़ या निष्क्रिय नहीं होना चाहिए।

हमें समझना चाहिए कि वस्तुतः शरीर मन के साथ एक है। आप उन्हें अलग-अलग नहीं बाँट सकते। संभव हो तो, मैं बच्चों को कहता हूँ कि घूमने जाओ तो अपनी नोटबुक साथ रखो। जो भी आस-पास देखो उस का नोट लेते लिखते जाओ, प्राकृतिक इतिहास के तथ्य और अवलोकन, देहातों के विविध रूप, सड़क पर अनुभव, बाजार में, बातचीत के विषय, उन की अपनी रुचि की विविध बातें। मैं बच्चों को प्रेरित करता था कि सिर पर सामान उठाए बाजार में बेचने जा रही संथाल स्त्रियों को ध्यान से देखें। उन की सधी चाल, उन की बात-चीत, गाड़ीवानों के गान, आदि देखें सुनें। वे कभी-कभी टुकड़ी बातें ही लिखेंगे, पर वह पूरी गतिविधि, चलते हुए नोट लिखना, वार्तालाप करना, कभी रेखाचित्र बनाना, उन के शरीर, मन, आँखों,और कानों के लिए संपूर्ण अभ्यास होगा। सभी अंगों में सामञ्जस्य और सहयोग एक जटिल और रोचक अभ्यास हो सकता है। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि पूरा शरीर अपने सभी क्रियाकलापों में सक्रिय रहे तो हम काफी अधिक तेजी से सीख सकते हैं।

'उपयोगितावादी' लोग सभी समय को बैठे पाठ पढ़ने-पढ़ाने में लगा देना अच्छा समझते हैं। यह बेचारे शरीर के साथ अन्याय है। प्रकृति ने मन और शरीर को पूर्ण सामञ्जस्य में बनाया है। परन्तु सभ्यता ने दोनों के बीच अवरोध खड़ा कर दिया है। हमारा कर्तव्य है कि इस अवरोध को तोड़ कर दोनों के बीच स्वाभाविक रास्ता खोल दें। ग्रीक लोग इस अंतर्संबंध से अवगत थे, क्यों कि उन्होंने शरीर और मन की पूर्ण संगति बनाई थी। उन्होंने शिक्षा को संगीत और खेलकूद से जोड़ दिया था। (देखें परिशिष्ट, प्लेटो के विचार)

'एक कवि का विद्यालय'

भारत के प्राचीन गुरुकुल तपोवन की भावना अपने मूल स्वरूप में आज काल्पनिक और बेमेल लगेगी। वास्तविक लगने के लिए उसे जीवन की आधुनिक

स्थितयों के अनुकूल अपना कोई नया अवतार ढूँढना होगा। और केवल दिखने में नहीं, वरन सचाई में समान लगना होगा। इसीलिए आधुनिक कवि का हृदय अपनी बात बोधगम्य भाषा में रचने को आकुल होता है।

आज का सभ्य मनुष्य अपने सहज जीवन से बड़ी दूर चला आया है। उस ने धीरे-धीरे कुछ आदतें बना और जमा ली हैं, जो मधुमक्खियों की तरह हैं, अपनी छत्ते-की-दुनिया के अनुरूप अपने को ढाल कर। हम प्राय: देखते हैं कि आधुनिक मनुष्य ऊब से, दुनिया से उदासीन होकर, बिना किसी विवेकपूर्ण कारण के अपने वातावरण के प्रति विद्रोह की भावना से पीड़ित होता रहता है। आत्मघाती हिंसा के साथ सामाजिक क्रान्तियाँ होती रहती हैं जिस का मूल हमारे इस छत्ते-की-दीवाल वाली व्यवस्था के प्रति असंतोष में है - इतना विशिष्ट बंद-स्थान जो हमें उस दृष्टिकोण से वंचित कर देता है जो हमारे जीवन जीने की कला के लिए उचित अनुपात प्रदान करने के लिए अत्यावश्यक है। यह सब संकेत है कि मनुष्य वस्तुत: मधुमक्खियों के मॉडल पर नहीं गढ़ा गया है। इसलिए वह बेहतर विद्रोही हो जाता है जब सामाजिक से बढ़ कर होने की उस की स्वतंत्रता की उपेक्षा होती है।

आज की अत्यधिक जटिल आधुनिक अवस्था में भौतिक शक्तियों को ऐसी दक्षता से संगठित किया गया है कि उत्पादित वस्तुएं बहुत अधिक हो जाती हैं, उन्हें चुन कर अपने स्वभाव और आवश्यकता के साथ समंजित कर सरल बना लेने की मनुष्य की क्षमता से बहुत अधिक। वस्तुओं की ऐसी बेतहाशा वृद्धि, उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में जंगल-झाड़ की तरह, मनुष्य के लिए घेराबंदी पैदा करती है।

घोंसला सरल होता है, उस का आकाश से संबंध आसान रहता है। पिंजरा जटिल और मँहगा होता है, वह अपने में ही काफी कुछ है, अपने बाहर की हर चीज को बहिष्कृत करता हुआ। और आधुनिक मनुष्य अपना यही पिंजरा बनाने में व्यस्त है, तेजी से उस दानव - वस्तु - पर निर्भर परजीवी बनता हुआ। जिसे वह अपने चारो ओर से घेर लेने की अनुमति दे रहा है। वह वस्तुओं की जड़ कठोरताओं के अनुरूप अपने को ढालने में ही सदैव व्यस्त रहता है। उस की सीमाओं में अपने को सीमित कर लेता है, और उन्हीं का एक अंग बन जाता है।

यह बातें बड़ी पूरबी लग सकती हैं और कुछ लोग कहेंगे कि वस्तुओं

के लिए पैदा यह कृत्रिम बनाई गई भूख से जो स्थाई दबावग्रस्त मानव जीवनशैली बनी है, वही तो उस ऊर्जा को बनाती और खिलाती है जिस से सभ्यता अपनी अंतहीन यात्रा पर चल रही है। किन्तु मुझे नहीं लगता कि यह भूख कभी भी सभ्यता की मुख्य चालक-शक्ति रही है, उस से कोई भी आज तक ज्ञात सभ्यताएं ऊँचाई पर पहुँची नहीं मिलती। मैं इस विषय पर पूरी चर्चा करने के लिए यह सब नहीं कह रहा हूँ, अपितु मात्र यह स्पष्ट करने के लिए कि एक कवि क्यों उस क्षेत्र (शिक्षण) में घुस गया है जो सामान्यत: विशेषज्ञों और अकादमिक विशिष्टताओं वाले लोगों के लिए सुरक्षित माना जाता है।

भारतीय दर्शन की विरासत सभी चीजों के साथ सामञ्जस्य की बात कहती है। अपनी चेतना के विस्तार की वह पारंपरिक चाह विशेषकर भारतीय मानसिकता रही है। उसी का गहरा प्रभाव मुझ में कहीं जमा हुआ है, मैं उन्हीं पूर्वजों से हूँ। अच्छा हो या बुरा, वह सामञ्जस्य ही हम में अपनी स्वतंत्रता की तीव्र चाह पैदा करता है, मनुष्य की बनाई दुनिया में नहीं बल्कि ब्रह्माण्ड की गहराई में, और हम से अपनी श्रद्धा उस देवत्व को अर्पित कराता है जो अग्नि, जल, वृक्ष में है, हर गतिवान और वृद्धिशील अस्तित्व में है।

मेरे विद्यालय की स्थापना का स्त्रोत स्वतंत्रता की उसी चाह की स्मृति में है, वह स्मृति जो मेरे जन्म की आकाश-रेखा से परे है।

केवल आत्मनिर्भरता के भाव में स्वतंत्रता सारहीन है, और इसलिए उस भाव में कोई अर्थ नहीं है। त्रुटिहीन स्वतंत्रता संबंधों के त्रुटिहीन सामञ्जस्य में है जो हम इस विश्व में प्राप्त करते हैं - उसे जानने में नहीं, बल्कि स्वयं सामञ्जस्य में स्थित होने में। जानने के विषय हम जानने वालों से असीम दूरी रखते हैं। क्योंकि जानना उन से युक्त होना नहीं है। अत: स्वतंत्रता का सुदूर जगत हमारी प्रतीक्षा करता है जहाँ हम सत्य तक पहुँचते हैं, अपने बोध के द्वारा अनुभूति से नहीं, न विवेक द्वारा जानकर, अपितु संपूर्ण सहानुभूति के योग के द्वारा।

बच्चे अपनी बोध की ताजगी के कारण विश्व के साथ प्रत्यक्ष निकट संपर्क में आते हैं। यह उन्हें मिला हुआ पहला महान उपहार है। इसे उन्हें यथावत अवश्य स्वीकार करना चाहिए और उस के साथ अपने प्रत्यक्ष संवाद की शक्ति कभी खोना नहीं चाहिए। अपनी संपूर्णता के लिए हमें प्राणिक क्षेत्र में बर्बर, और मानसिक क्षेत्र में सभ्य होना होगा। हम में यह प्रतिभा होनी चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक और मनुष्य समाज के साथ मानवीय रहें।

प्रसन्न रहने की वह बिना मूल्य की सहज शक्ति जो बच्चों में होती है, वह जीवन की ईंट-गारे वाली व्यवस्था के साथ रगड़ में यांत्रिक आदतों और चालू शिष्टाचार के माध्यम से लगातार घिसती रहती है।

पर मनुष्य में अ-सभ्य (प्राकृतिक) और सभ्य का अनुपात वैसा ही होना चाहिए जैसे पृथ्वी पर जल और थल का है, जिस में पहले वाले का दबदबा रहता है। पर स्कूल अपना उद्देश्य रखता है उस प्राकृतिक (अ-सभ्य) क्षेत्र पर निरंतर कब्जा करते चलना। तरल तत्व को ऐसे निरंतर सोखते जाने से एक शुष्कता पैदा होती है जो शहरी स्थितियों में निंदनीय नहीं समझी जाती। पर वह सार्वभौमिक आदर्श नहीं है। रॉबिनसन क्रूसो की कथा इस अर्थ में बच्चों के लिए अत्यंत उपयोगी और शिक्षाप्रद है। प्रकृति के साथ सामञ्जस्य के जीवन की सक्रिय उपलब्धि का एक उदाहरण। पश्चिमी विश्व ने अपनी जलवायु और भौतिक स्थिति के कारण भी उस सक्रियता को बहुत कुछ उपलब्ध किया है। पूर्वी समाज के किसी भक्त की विश्व आत्मा वाली अंतर्दृष्टि का पश्चिमी समाज के उस सक्रिय बाह्य विस्तार के साथ सेवा-भाव में समन्वय हो सके, ऐसी मेरी इच्छा होती है।

रोबिनसन क्रूसो का द्वीप ही मुझे किसी संस्था के निर्माण में ध्यान आता है। मनुष्य और प्रकृति का पूर्ण तालमेल। न केवल प्रेम में बल्कि सक्रिय संवाद में भी निर्बाध। हमें ध्यान रखना चाहिए कि प्रेम और कर्म ही वे माध्यम हैं जिन से त्रुटिहीन ज्ञान प्राप्त हो सकता है। क्योंकि ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य विद्वता नहीं, अपितु विवेक पाना है। जीवन और विश्व के बीच अंत:क्रिया में संगीतमय त्रुटिहीन संतुलन पाना ही विवेक है। यह सरल जीवन बनाने, बल्कि रचनात्मक जीवन बनाने की बात है। क्योंकि जीवन जटिल भी हो सकता है, किन्तु उस के बीच यदि जीवन्त व्यक्तित्व हो तो फिर भी रचनात्मक एकता का भाव रह सकता है।

प्रेम ही स्वतंत्रता है: यह हमें अस्तित्व की वह स्वतंत्रता प्रदान करता है जो हमें अत्यंत सस्ते उद्देश्यों का मूल्य अपनी आत्मा देकर चुकाने से बचाता है। प्रेम ही इस जगत को प्रकाशित करता है और जीवन को महसूस कराता है कि उस के पास हर कहीं वह पर्याप्तता है जो ही इस का परमभोग है।

कुछ लोग सरल जीवन का आदर्श उपदेशते हुए निर्धनता की आध्यात्मिक महिमा बखानते हैं। मैं निर्धनता में कोई विशेष मूल्य देखने से इन्कार करता हूँ, जब तक यह केवल नकार हो। जब मस्तिष्क में वह संवेदना हो जो यथार्थ की

गहरी पुकार का उत्तर देने में समर्थ हो, तभी वह वस्तुओं के काल्पनिक मूल्य के प्रलोभन से स्वभावत: दूर हट जाता है। यह कठोर संवेदनहीनता है जो सहज आनन्दित होने की हमारी शक्ति छीन लेती है, और हमें फर्नीचर और मँहगी चीजों के मूर्खतापूर्ण भार पर इतराने की हीनता में डुबा देती है। किन्तु विलासिता की जड़-संवेदनहीनता के समक्ष सन्यासवाद की जड़-संवेदनहीनता की सहायता लेना केवल एक बुराई से दूसरी बुराई के द्वारा लड़ना भर है। मानो जंगल के बेतहाशा झाड़ फैलाव का दैत्य हटाने के लिए उजाड़ रेगिस्तान के दैत्य को बुलाना।

मैंने अपने स्कूल में हर प्रयत्न किया है कि बच्चों में प्रकृति के प्रति जीवन्त भावना विकसित हो, अपने मानवीय परिवेश के साथ संबंध में उन की आत्मा संवेदनशील बने। साहित्य, उत्सव समारोह, और धर्म शिक्षाओं के द्वारा जो हमें अपनी आत्मा के माध्यम से विश्व के निकट रहने के लिए कहते हैं। इस प्रकार विश्व को उस से अधिक प्राप्त करना जितना मापा जा सकता है – जैसे किसी वाद्ययंत्र को रखना मात्र नहीं बल्कि उस से संगीत रचकर उसे वस्तुत: प्राप्त करना। मैंने बच्चों के लिए इस जगत में सचमुच घर आ जाने की तैयारी की है। खुले आकाश में वृक्षों के नीचे अन्य विषयों के अतिरिक्त वे संगीत, चित्रकला सीखते हैं; नाट्य करते हैं, ऐसी गतिविधियाँ जिन में जीवन की अभिव्यक्तियाँ है।

मैं अपने शैक्षिक आदर्श में उस पश्चिमी प्रतिभा की देन भी जोड़ने की आवश्यकता महसूस करता हूँ जो यथार्थ की शक्ति है, जो किसी व्यावहारिक कार्य के निश्चित लक्ष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करना जानती है।

हम ने पाया कि जो मस्तिष्क किसी रचनात्मक कार्य में लगा है, उस में शीघ्र ही ऐसी ऊर्जा विकसित होती है जो ज्ञान की खोज में अपने मार्ग ढूँढ़ती है। सार्थक शारीरिक श्रम की सक्रियता और स्वस्थ सामाजिक व्यवहार की आदत से छात्रों में अत्यंत प्रशंसनीय व्यक्तित्व विकास हुआ।

बच्चों को समझने देना चाहिए कि शिक्षा जीवन की साहसिक यात्रा, एडवेंचर, का स्थाई अंग है। यह कोई अस्पताल का कष्टदाई उपचार नहीं है जहाँ उन के अज्ञान की जन्मजात बीमारी से उन्हें छुटकारा दिलाया जा रहा हो। अपितु यह स्वास्थ्यकर गतिविधि है, उन के मस्तिष्क की जीवन्तता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति।

शैक्षिक प्रयत्न का एक सब से महत्त्वपूर्ण भाग यह भी है। ध्यान रहे कि बच्चों में एक सक्रिय अवचेतन मन होता है। जिसे पेड़ों की तरह ही क्षमता होती है कि अपने पर्यावरण से अपना भोजन स्वयं प्राप्त कर ले। अत: बच्चों के लिए

वातावरण तमाम नियमों, विधियों, भवन के उपकरणों, कक्षा के पाठ, और पाठ्य-पुस्तकों से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। धरती के पास भी अपनी भूमि और जल तो होता ही है, किन्तु अलंकारिक रूप से कहें तो वह भी अपनी स्वतंत्रता की प्रेरणा, अपने जीवन का स्पंदन अपने पर्यावरण से प्राप्त करती है। यह मानो उस की स्थाई शिक्षा का आवरण ही है। किन्तु हम अपने शिक्षा संगठन में मानो खनिकों की तरह व्यवहार करते हैं, यांत्रिक श्रम की कठिन प्रक्रिया से ठोस वस्तुओं के लिए खुदाई करते रहते हैं। न कि कृषक की तरह जिस का कार्य प्रकृति के साथ सटीक सहयोग है, वातावरण के साथ एक निष्चेष्ट सहानुभूति संबंध में।

आज बच्चों का मन दूसरी भाषाओं और परंपराओं के लोगों को समझने में लगभग जानबूझकर असमर्थ बना दिया गया है। इस से हम एक-दूसरे के लिए मानो अँधेरे में टटोलते हैं जब हमारी विकसित होती आत्मा उस की माँग करती है। अज्ञानवश हम एक दूसरे को चोट पहुँचाते हैं, आज के युग में सब से बुरे प्रकार के अंधेपन से पीड़ित होते हैं। ऐसी संवेदनहीनता और दूसरे समाजों और सभ्यताओं के प्रति घृणा पनपाने में क्रिश्चियन मिशनरियों ने स्वयं योगदान किया है। भ्रातृत्व के नाम पर और संकीर्ण मतवादी घमंड में वे गलत समझ पैदा करते हैं। इसे वे पाठ्य-पुस्तकों मे स्थाई रूप से रखकर बच्चों के संवेदनशील मस्तिष्क को जहरीला बनाते हैं। मैंने अपने पश्चिमी मित्रों के सहयोग से अपने स्कूल में बच्चों को सहज मानवीय प्रेम की ऐसी काट-छाँट से बचाने का प्रयत्न किया है।

राष्ट्रवाद का दुष्प्रभाव

सामयिक और स्थानीय कारणों से मनुष्य सीमा के अंदर सत्य को देखता है, इसलिए वह सत्य को छोड़कर सीमा की ही पूजा करने लगता है; देवता से अधिक पंडे को मानता है। राजा को भूल जाता है, पर दरोगा को कभी नहीं भूलता। पृथ्वी पर नेशन का निर्माण तो सत्य के जोर से हुआ, लेकिन नेशनलिज्म सत्य नहीं। फिर भी देश के वेष्टन-देवता की पूजा अनुष्ठान के लिए चारो ओर नरबलि की तलाश है। ... इस दुर्बुद्धि का ही नाम है नेशनलिज्म, राष्ट्रीय अहंकार। यह है एक इन्द्रिय वृत्ति। ऐक्य तत्व के विरुद्ध दिशा में इस का खिंचाव है।... नेशनलिज्म के विकार को हम स्थान दें तो शकुनि की तरह कपट द्यूत की डिप्लोमेसी होगी, और इस से बार-बार कुरुक्षेत्र प्रस्तुत होगा।

वर्तमान युग की साधना के साथ आज की शिक्षा सुसंगत होनी चाहिए। राष्ट्रीय वेष्टन-देवता के पुजारी किसी-न-किसी बहाने से शिक्षा से भी राष्ट्रीय अभिमान को बढ़ाना अपना कर्तव्य समझते हैं। जब जर्मनी की शिक्षा-व्यवस्था राजनैतिक भेदबुद्धि की क्रीतदासी बन गई, अन्य पाश्चात्य देशों ने जर्मनी की निन्दा की। लेकिन आज पश्चिम का कौन-सा बड़ा देश है जहाँ यही बात नहीं हुई है? इन देशों के अखबारों का मुख्य कार्य क्या है? राष्ट्रीय अहंकार की कुशल कामना करना और इस के लिए असत्य के पीर को नैवेद्य चढ़ाना।

राष्ट्रीय अहमिका (अहंकार) से मुक्तिदान की शिक्षा ही आज की प्रधान शिक्षा है। स्वदेश का गौरव बोध मुझे भी है, लेकिन मेरी इच्छा है कि गौरव-बोध के कारण मैं यह कभी न भूलूँ कि एक दिन हमारे देश के साधकों ने जिस मंत्र का प्रचार किया था वह भेद-भाव दूर करने का मंत्र था। मैं सुन पा रहा हूँ कि समुद्र के उस पार मनुष्य आज अपने-आप से यही प्रश्न कर रहा है, ''हमारी कौन-सी शिक्षा कौन-से चिंतन और कर्म में मोह प्रच्छन्न था, जिस के कारण हम आज ऐसा दारुण दुःख भोग रहे हैं?'' हमारे देश से ही इस प्रश्न का उत्तर देश-देशांतर पहुँचे: ''तुम ने अपनी साधना से मनुष्य के एकत्व को दूर रखा था, यही था तुम्हारा मोह, और इसी से तुम दुःख सहन रहे हो'':

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।'

मेरी यह आंतरिक कामना है कि हमारे देश के विद्यानिकेतन को पूर्व-पश्चिम का मिलन-केंद्र बनाया जाए। विषय-लाभ के क्षेत्र में विरोध आसानी से नहीं मिटता। लेकिन सत्य-लाभ के क्षेत्र में मिलन के रास्ते में कोई बाधा नहीं है।

अभागे भारत में आज शिक्षा के लिए जो कुछ व्यवस्था है, वह रूपये में पंद्रह आने पराए से विद्या-भिक्षा माँगने की व्यवस्था है। जिस की वृत्ति भीख माँगने की है वह आतिथ्य न कर सकने पर लज्जित नहीं होता। वह कहता है: 'मैं भिक्षुक हूँ, मुझ से आतिथ्य की प्रत्याशा कोई नहीं करता'। लेकिन यह सच नहीं है। मैंने बार-बार पश्चिम को यह जिज्ञासा करते हुए सुना है: 'भारत की वाणी कौन सी है?' और फिर भारत के द्वार पर आकर जब पश्चिम ने कान लगाया है तो कहा है: 'यह तो हमारी ही वाणी की क्षीण प्रतिध्वनि है, जो व्यंग्य (विद्रूप) की तरह लगती है।'

इस प्रकार, आधुनिक भारत के गर्व प्रकाशन में पाश्चात्य वाद्य की आवाज

सुनाई पड़ती है; और जब वह पश्चिम का विरोध करता है तब भी उस के धिक्कार में पाश्चात्य रोग के ही तीव्र स्वर तारसप्तक में बज उठते हैं।

मेरी प्रार्थना है कि आज भारत समस्त पूर्वी जगत का प्रतिनिधि बन कर सत्य-साधना के लिए अतिथिशाला स्थापित करे। जानता हूँ, उस के पास धन संपदा नहीं है, पर साधन-संपदा तो है।

हमें सत्य चाहिए - केवल किसी सुविधा के लिए नहीं, सम्मान के लिए नहीं, बल्कि मानव-आत्मा को प्रच्छन्नता से मुक्त करने के लिए। मनुष्य के इसी प्रकाशन तत्व को हमारी शिक्षा में प्रचारित करना होगा, तभी सारी मानव-जाति को सम्मानित करके हम स्वयं सम्मान लाभ करेंगे। हमारे विद्यापीठों का शिक्षा-मंत्र यही होना चाहिए: *'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानः ततो न विजुगुप्सते।'*

भारत में राष्ट्रवाद

भारत में सच्चे अर्थ में राष्ट्रवाद कभी नहीं रहा है। यद्यपि मुझे बचपन से ही सिखाया गया था कि राष्ट्र की प्रतिमा-पूजा ईश्वर और मानवता के प्रति श्रद्धा से भी लगभग बेहतर है, मुझे लगता है कि उस सीख से मैं बाहर निकल चुका हूँ। और यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासी अपने भारत को वस्तुतः उस शिक्षा के विरुद्ध लड़कर ही पाएंगे जो उन्हें सिखाती है कि कोई देश मानवता के आदर्शों से भी ऊपर है।

आज का शिक्षित भारतीय इतिहास से कुछ ऐसे पाठ आत्मसात करने की कोशिश कर रहा है जो हमारे पूर्वजों की सीखों के विपरीत है। पूर्व के देश, दरअसल, एक ऐसा इतिहास मानने की कोशिश कर रहे हैं जो उन के अपने जीवन का नहीं है।

भारत की प्रवृत्ति यदि राष्ट्र-गठन की होती तो अवश्य ही आज भारत में बहुत बड़ी-बड़ी इतिहास की सामग्रियाँ देखने को मिलतीं और उन से आधुनिक इतिहासज्ञों का काम बहुत कुछ सहज हो जाता। किंतु यह देख कर मैं इस बात को किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि भारत ने अपने अतीत और भविष्य को किसी एक सूत्र में ग्रंथित नहीं किया है। वह सूत्र सूक्ष्म है, परंतु उस का प्रभाव साधारण नहीं है। स्थूल भाव से वह दीख नहीं पड़ता, परंतु उसी ने अब तक हमें अपने पूर्वजों से अलग नहीं होने दिया।

किन्तु यूरोप का अपना अतीत है। इसलिए यूरोप की शक्ति उस के इतिहास में है। हम भारत के लोगों को अपना मन अवश्य बनाना है कि हम दूसरे लोगों का इतिहास उधार नहीं ले सकते, और यदि हम अपने इतिहास का दमन करते हैं तो हम आत्महत्या कर रहे हैं। जब आप ऐसी चीजें उधार लेते हैं जो आपके जीवन से जुड़ी नहीं हैं, तो वह आप के जीवन को दबाने में ही काम आएंगी।

और इसीलिए मेरा विश्वास है कि पश्चिमी सभ्यता से उसी की भूमि पर प्रतियोगिता करने से भारत का कोई लाभ नहीं है। परन्तु हम यदि अपनी नियति पर चलें तो हमें उस से अधिक ही लाभ होगा।

यदि हम एक राजनीतिक राष्ट्रवाद खरीदने के लिए अपना सब कुछ दे देने की चाह रखें तो यह वैसा ही फूहड़ होगा जैसे यदि स्विट्जरलैंड इंग्लैंड से प्रतियोगिता करने में उस के जैसी शक्तिशाली नौसेना बनाने में अपना सब कुछ लगा दे। हम ऐसी भूल यह सोचकर कर रहे हैं कि मनुष्य की महानता का मार्ग एक ही होता है – वही मार्ग जिस ने अपनी गहरी उद्दंडता से अपने को अभी कष्टकारी रूप से उजागर कर दिया है।

हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि हमारा एक भविष्य हमारे सामने है और वह भविष्य उन के लिए प्रतीक्षा कर रहा है जो नैतिक आदर्शों में समृद्ध हैं, न कि केवल वस्तुओं में। और यह मनुष्य का ही विशेष अधिकार है कि वह ऐसे फलों के लिए भी प्रयास करता है जो उस की सीधी पहुँच से बाहर होते हैं, और वह अपने जीवन को सीमित चाह में किसी वर्तमान सफलता या अपने ही अच्छे अतीत के भी दासवत अनुकरण में नहीं ढाल लेता। बल्कि हमारे सर्वोच्च अपेक्षाओं के आदर्शों को हृदय में रखकर असीम भविष्य के लिए अपने को बनाता है।

मैं किसी राष्ट्र विशेष के विरुद्ध नहीं, बल्कि राष्ट्रों की सामान्य धारणा के विरुद्ध हूँ। राष्ट्र क्या है?

यह किसी मानव समुदाय की एक संगठित शक्ति का रूप है। यह संगठन उस आबादी विशेष की स्वयं को शक्तिशाली और दक्ष बनने की आन को अविराम रूप से बनाये रखता है। मगर शक्ति और दक्षता के लिए कठिन प्रयत्न व्यक्ति को अपने ऊँचे स्वभाव जहाँ वह आत्मोत्सर्गी और रचनात्मक है, वहाँ से हटाकर उस की ऊर्जा को सोख लेता है। क्यों कि तब उत्सर्ग करने की उस की शक्ति उस के सर्वोच्च उद्देश्य, जो नैतिक है, उस से घुमा कर इस संगठन को बनाए

रखने में लगा दी जाती है, जो यांत्रिक है। फिर भी, इस संगठन में वह तमाम नैतिक श्रेष्ठता का संतोष प्राप्त करता है और इस प्रकार मानवता के लिए भारी खतरनाक हो जाता है।

क्योंकि वह अपनी अंतरात्मा की पुकार से मुक्त महसूस करता है जब वह अपना उत्तरदायित्व इस मशीन को स्थानांतरित कर देता है जो उस की बुद्धि की, न कि उस के संपूर्ण नैतिक व्यक्तित्व की निर्मिति है। इस मशीन के माध्यम से लोग जो स्वतंत्रता प्रेमी हैं, वही दुनिया के बड़े हिस्से में गुलामी कायम रखने लगते हैं। वह भी एक आरामदेह गर्व भावना के साथ कि वे अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। ऐसे लोग जो सहज न्यायप्रिय हैं, क्रूरतापूर्वक अन्यायी हो जाते हैं, अपनी करनी और चिंतन दोनों में। साथ में उन्हें यह भी लगता है कि वे दुनिया को उस का उचित प्राप्य देने में सहायता कर रहे हैं। ऐसे लोग जो चरित्रवान हैं, अपनी राष्ट्रवादी अहंता में दूसरे लोगों के मानवीय अधिकारों को आँख मूँद कर लूटते रह सकते हैं। साथ ही उन लुटे लोगों को अपशब्द सुनाते हुए कि वे इसी लायक हैं।

हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि व्यापार और धंधे के छोटे संगठन भी अपने लोगों में भावनाओं की क्रूर कठोरता पैदा कर देते हैं, जो स्वयं स्वभावत: बुरे नहीं हैं। अत: हम सरलता से कल्पना कर सकते हैं कि यह विश्व में कैसी नैतिक विभीषिका पैदा कर रही है जहाँ पूरे के पूरे मानव समुदाय धन और शक्ति पाने के लिए उग्रता से अपने-अपने को संगठित कर रहे हैं। यही राष्ट्रवाद है।

इसलिए राष्ट्रवाद एक भारी खतरा, menace है। यह ठीक वह चीज है जो बरसों से भारत की समस्याओं की जड़ में है। और जिस हद तक हम एक ऐसे राष्ट्र द्वारा पराभूत और शासित रहे हैं जो अपने रुख में कठोरता पूर्वक राजनीतिक है, हम ने अतीत की अपनी विरासत के बावजूद अंतत: राजनीतिक नियति के विश्वास का विकास अपने अंदर करने का यत्न किया है।

जबकि भारत में हमें जो सोचना है वह यह, कि अपनी उन सामाजिक प्रथाओं और आदर्शों को हटा दें जिन से हम में आत्मसम्मान की कमी हुई और अपने से ऊपर के लोगों पर पूर्ण निर्भरता बनी – ऐसी हालत जो पूरी तरह भारत में जाति-व्यवस्था की प्रबलता, और उन बेमेल परंपराओं की सत्ता पर अंधी और आलसी निर्भरता के कारण ही बनी जो आज के युग में बिलकुल अनुपयुक्त हो चुकी थीं।

भारत की समस्या लघु रूप में पूरे विश्व की समस्या है। भारत अपने क्षेत्र में इतना विशाल और आबादी में इतना विविध है। यह अनेक देशों का एक क्षेत्रीय परिदृश्य में एकत्रित हो जाना है। यह उस का ठीक उलटा है जो यूरोप वस्तुत: है: एक ही देश का अनेक बन जाना।

इसलिए राजनीतिक स्वतंत्रता हमें वह स्वतंत्रता नहीं देती जब हमारा मन स्वतंत्र न हो। एक मोटर-कार हमारे लिए घूमने-फिरने की स्वतंत्रता नहीं बनाती, क्यों कि वह एक मशीन मात्र है। जब मैं स्वतंत्र हूँ, तभी मैं मोटर-कार का उपयोग भी अपनी स्वतंत्रता के लिए कर सकता हूँ।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि आज जो लोग राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं, वे सभी वास्तव में भी स्वतंत्र नहीं हैं। उन में जो उच्छृंखल आवेग है उस से वे स्वतंत्रता के भ्रम में केवल दासता की बड़ी संरचनाएं बना रहे हैं। जिन्होंने धन की प्राप्ति को अपना अंतिम उद्देश्य बना लिया है वे अचेतन रूप से अपना जीवन और आत्मा धनी लोगों या उस संरचनाओं को बेच रहे हैं जो धन का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह, जो राजनीतिक शक्ति से मोहित हैं और दूसरे देशों पर अपना वर्चस्व बनाकर सुख में डूब-उतरा रहे हैं, वे क्रमश: अपनी ही स्वतंत्रता और मानवता उन संगठनों को सौंप रहे हैं जो दूसरे लोगों को दासता में रखने के लिए आवश्यक हैं। कथित स्वतंत्र देशों में बहुसंख्य लोग स्वतंत्र नहीं हैं, वे एक लघु संख्या द्वारा उस उद्देश्य में घसीटे जाते हैं जिस की उन्हें जानकारी भी नहीं होती। ऐसा केवल इसीलिए संभव होता है क्योंकि लोग नैतिक और आध्यात्मिक मुक्ति को अपना उद्देश्य स्वीकार नहीं करते। वे अपनी कामनाओं से बड़ी-बड़ी विपरीत लहरें बना लेते हैं, और उस की चक्करदार गति की तीव्रता भर से वे नशे में झूमते से महसूस करते हैं, और उसी को स्वतंत्रता समझते हैं। लेकिन जो अंधपतन उन की प्रतीक्षा कर रहा है वह उतना ही निश्चित है जितनी मृत्यु - क्यों कि मनुष्य का सत्य नैतिक सत्य है और उस की मुक्ति आध्यात्मिक जीवन में ही है।

भारत के वर्तमान राष्ट्रवादियों की बहुसंख्या मानती है कि हम अपने सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्शों की अंतिम परिपूर्ति तक आ पहुँचे हैं, समाज के लिए रचनात्मक कार्य के आदर्श का निर्माण हमारे जन्म से हजारों वर्ष पहले ही हो चुका है, और हम अपनी गतिविधियों को राजनीतिक दिशा में लगाने के लिए

मुक्त हैं। हम कल्पना भी नहीं करते कि हमारी वर्तमान असहायता के लिए हम अपनी सामाजिक कमियाँ को दोष दें। क्योंकि हम ने अपने राष्ट्रवाद का यही सिद्धांत स्वीकार किया है कि यह सामाजिक व्यवस्था हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्ष पहले त्रुटिहीन बना ली थी, जिन में भविष्यत युगों की व्यवस्था सदा के लिए बना लेने की अतिमानवीय दूरदृष्टि थी। इसलिए अपनी सभी दुर्दशा और कमियों के लिए हम बीच में हुई ऐतिहासिक आकस्मिक विपदाओं को जिम्मेदार ठहराते हैं जो बाहर से हमारे ऊपर टूट पड़ीं। यही कारण है कि हम सोचते हैं कि सामाजिक दासता की बालू की भित्ति पर स्वतंत्रता का राजनीतिक चमत्कार निर्मित करना ही हमारा एक मात्र कर्तव्य है।

भारत में हमारे जो लोग इस भ्रम में पड़े हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमें स्वतंत्र बनाएगी, उन्होंने यूरोप से लिए हुए अपने पाठ को धर्म-सूत्र मान लिया है और मानवता में विश्वास खो दिया है। हमें याद रखना चाहिए कि हम अपने समाज में जिन गलतियों, गड़बड़ियों से लगाव रखते हैं वही राजनीति में खतरे के स्त्रोत बन जाएंगे। वही जड़ता जिस से हम अपनी सामाजिक प्रथाओं की कुरूपताओं की पूजा करते हैं, वही राजनीति में जड़ दीवालों से कैदखाने बना देगी। सहानुभूति की जो संकीर्णता हमारे लिए संभव बनाती है कि हम मानवता के खासे भाग को लज्जास्पद नीच स्थिति में बनाए रखें, वही हमारी राजनीति में अन्याय का जुल्म बन कर खड़ी हो जाएगी।

हमारे राष्ट्रवादी जब आदर्शों की बात करते हैं तो वे भूल जाते हैं कि राष्ट्रवाद के विचार का कोई आधार ही लापता है। इन आदर्शों की बात करने वाले ही अपने सामाजिक व्यवहार में सब से संकीर्ण लोग हैं। राष्ट्रवादी लोग, उदाहरण के लिए, कहते हैं कि स्विट्जरलैंड को देखिए, जहाँ विविध समुदायों के लोग होते हुए भी सभी एक राष्ट्र के रूप में एकताबद्ध हैं। पर याद रखिए, कि स्विट्जरलैंड में वे समुदाय एक-दूसरे में मिल-जुल सकते हैं, विवाह-संबंध कर सकते हैं, क्यों कि वे एक ही रक्त के हैं। जबकि भारत में कोई समान जन्म-अधिकार नहीं है। और जब हम यूरोपीय राष्ट्रों की बात करते हैं तो भूल जाते हैं कि वहाँ एक की दूसरे से शारीरिक दुराव, घृणा नहीं है, जो यहाँ विभिन्न जातियों के बीच है।

क्या पूरे विश्व में हम एक भी उदाहरण देखते हैं जहाँ कोई मानव समूह

दूसरे समूह से अपने रक्त को मिलने की अनुमति न देता हो, वहाँ किसी दबाव या लोभ के बिना कोई एक दूसरे के लिए रक्त बहाता हो? और तब क्या हम कभी भी यह आशा कर सकते हैं कि भारत में हमारे सामाजिक मेलजोल में ऐसे नैतिक अवरोध हमारी राजनीतिक एकता के मार्ग में बाधा बन कर नहीं खड़े होंगे? फिर, हमें इस तथ्य को भी पूरी तरह से समझ लेना चाहिए कि हमारे सामाजिक प्रतिबन्ध अभी भी जोर-जुल्म से भरे हैं, इस हद तक कि वे लोगों को कायर बनाते हैं।

4.
श्रीअरविन्दो

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के परिणाम

भारत में शिक्षा अपने वास्तविक अर्थ से इतनी दूर कभी नहीं रही। बौद्धिक क्षेत्र में हमने अपनी विशाल और शाश्वत परंपरा को त्याग कर यूरोपीय विचारधारा के कुछ बचे-खुचे, उच्छिष्ट और छिट-पुट अंशों से अपने मस्तिष्क को धोखे में रख कर उस पर इतराने लगे हैं।

जब हमारी नसों में पहले-पहल पाश्चात्य शिक्षा का विष डाला गया, तो उस का तत्काल प्रभाव पड़ा और हिन्दू, जो तब बंगलाभाषी लोगों में बहुसंख्यक थे, गाँव से शहर की ओर ताँता लगा कर जाने लगे।

नयी [यूरोपीय, वर्तमान] शिक्षा पद्धति का दूसरा गंभीर, घातक दोष यह था कि उस मे बाह्य-ज्ञान की मात्रा को तो बढ़ा दिया जिसे आत्मसात करना विद्यार्थी से अपेक्षित था। किन्तु बौद्धिक श्रम के बढ़े हुए पहाड़ से सफलतापूर्वक जूझने के लिए उस ने पर्याप्त रूप से शरीर और मस्तिष्क को सबल-सुदृढ़ नहीं बनाया।

यह मानव आत्मा पर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्र पर एक आघात है जिस के कारण वह मनुष्य के सर्वोत्तम कार्य के लाभ से वंचित हो जाता है। बदले में अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, साधारण चीज स्वीकार करने के लिए बाधित होता है।

भारतीय युवकों में फैला कुख्यात भ्रष्टाचार (notorious moral corruption) अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के अनुसार शुद्ध रूप से मानसिक शिक्षा (purely mental instruction) देने का ही परिणाम था। वही शिक्षा भारतीय वेश-भूषा में सेंट्रल हिन्दू कॉलेज में देने से भी वही फल मिलेगा।

भारत में हम एक स्वार्थी और निर्जीव शिक्षा के द्वारा अपनी प्राचीन संस्कृति और परंपरा की सभी जड़ों से काट दिए गए हैं। हमारे पूर्वजों ने संगीत, कला और काव्य को जो मान्यता दी थी वह ऐसी पीढ़ी के लिए प्रायः अबोधगम्य बन गई है जो धरती को चींटियों की बाँबी या मधुमक्खियों के छत्ते में परिवर्तित करके जीवन को उस के अर्थ से वंचित करने पर तुली हुई है।

किन्तु यदि भारत यूरोप का एक बौद्धिक प्रदेश बन गया तो वह अपनी स्वाभाविक महानता कभी प्राप्त नहीं कर पाएगा और न अपने भीतर की संभावनाओं को ही पूरा कर पाएगा। 'परधर्मः भयावहः', दूसरे का धर्म स्वीकार करना खतरे से भरा हुआ है। वह एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र को उस के जीवन और प्राणशक्ति के रहस्य से वंचित करता है। और स्वतंत्र, विशाल, और सहज विकास के स्थान पर एक अप्राकृतिक और अवरुद्ध विकास को प्रतिस्थापित करता है। अपने भवितव्य को पूरा करने के लिए भारत को भारत ही बने रहना होगा।

उसी में यूरोप का भी हित है। क्योंकि यदि भारत, जो यूरोप की व्याधियों का सुविख्यात चिकित्सक रहा है, स्वयं ही रोग के शिकंजे में जकड़ जाता है तो रोग निरुपचार और निरुपचार्य ही बना रहेगा और यूरोपीय सभ्यता वैसी ही नष्ट हो जाएगी जैसी रोम के अधःपतन पर हुई थी। पहले अपने भीतर के शुष्क विघटन द्वारा और अंत में बाहरी आक्रमण द्वारा।

राष्ट्रीय शिक्षा के तत्व

भारत में आम तौर पर विद्यार्थियों में महान क्षमताएं हैं पर शिक्षा की प्रणाली इन क्षमताओं को दबा देती है और नष्ट कर देती है। आवश्यकता है एक वातावरण की — ज्ञान प्राप्त करने के एक व्यापक वातावरण की। विद्यार्थियों को उसे आत्मसात करना चाहिए, अपनी अंतःप्रवृत्तियों का पता लगाना चाहिए और उन्हीं मार्गों पर विकास करना चाहिए।

विशुद्ध वैज्ञानिक शिक्षा विचार को एक सीमा तक तीव्र और स्पष्ट दृष्टियुक्त तो बनाती है पर संकुचित, कठोर और ठंढा भी बना देती है। जो व्यक्ति बौद्धिक रूप से विकसित, वैज्ञानिक ज्ञान में बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति पर आधिपत्य रखने वाला, प्रकृति के तत्वों को अपना सेवक बना कर रखने वाला, और संसार को पायदान जैसा उपयोग में लाने वाला — किन्तु हृदय और भावना में अविकसित हो वह केवल एक घटिया प्रकार का असुर ही बन पाता है। जो एक गौण देवता

की शक्ति का प्रयोग एक पशु की प्रकृति को संतुष्ट करने के लिए करता है।

हम ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो भारतीय आत्मा के अनुकूल हो। यहाँ की आवश्यकताओं, यहाँ के स्वभाव और यहाँ की संस्कृति से मेल खाती हो। हम ऐसी चीज की खोज में नहीं हैं जो हमारे भूतकाल की अनुकृति हो, बल्कि विकसनशील भारतीय आत्मा, उस के भावी आत्म-निर्माण की महानता और उस की शाश्वत आत्मा के अनुरूप हो।

यहाँ राष्ट्रीय शिक्षा के विरुद्ध सब से पहले तर्क-वितर्क इस निर्जीव धारणा से होता है कि किसी विषय को सीख लेना, इस या उस प्रकार की जानकारी प्राप्त कर लेना ही समस्त कार्य या केंद्रीय वस्तु है। लेकिन विभिन्न प्रकार की जानकारियाँ प्राप्त करना शिक्षा की आवश्यकताओं में से एक है, और वह भी मुख्य आवश्यकता नहीं। उस का केंद्रीय उद्देश्य है मानव मन की शक्तियों और आत्म-बल का निर्माण। कम से कम, ज्ञान, चरित्र, और संस्कृति का उपयोग करने का संकल्प और शक्ति का निर्माण।

आंतरिक दृष्टि से मनुष्य आत्मा है, भगवान की सचेतन शक्ति है। अगर मनुष्य इस गुप्त सत्य को प्राप्त करना और उस के अनुसार जीना चाहे तो इस अंत:स्थित असली मनुष्य का आवाहन ही शिक्षा का और संपूर्ण मानव जीवन का लक्ष्य है।

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए अंतरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अंतर की अच्छी-से-अच्छी चीज को बाहर लाए और उसे किसी उदात्त उपयोग के लिए पूर्ण बनाए।

सारी चिंतनशील मानवजाति यह मानती है कि मनुष्य आत्म-विकास और पूर्णता के ऐसे आदर्श की ओर जाने में समर्थ है जिस की कल्पना करके, उस का मन उस के सामने रख सकता है और उस का अनुसरण कर सकता है। भले ही गिने-चुने लोग ही इस संभावना को जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण लक्ष्य समझते हों।[1]

बच्चे को हथौड़ी मार-मार कर माता-पिता या अध्यापक के चाहे हुए रूप में गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अंधविश्वास है। विद्यार्थी को यह प्रेरणा देनी

---

1. क्रीटो संवाद में प्लेटो ने भी यही कहा है। कई मूल्यवान बातें बहुमत, बहुसंख्य मत से नहीं तय होतीं।

चाहिए कि वह अपनी प्रकृति के अनुकूल अपना विस्तार करे। इस से बड़ी भूल नहीं हो सकती कि पहले से तय कर लें कि बच्चा अमुक गुण, क्षमताएं, विचार, विशेषताएं विकसित करेगा, या अमुक प्रकार की जीविका के लिए तैयार होगा।[2]

आप बच्चों पर थोड़ा-बहुत अनुशासन थोप सकते हैं, पहना-उढ़ा कर एक साँचे में ढाल सकते हैं, प्रताड़ना देकर इच्छित मार्ग पर चला भी सकते हैं, किन्तु जब तक आप उन के हृदयों और स्वभावों को अपने पक्ष में नहीं कर लेते तब तक इस थोपे हुए शासन का अनुपालन मिथ्याचारी और हृदयहीन ही बना रहेगा, एक रस्मी और प्राय: कायरतापूर्ण अनुपालन।

सभी इन्द्रियों का सही उपयोग

शिक्षक का पहला काम है कि बच्चे में छहो इन्द्रियों के ठीक उपयोग की क्षमता विकसित करे। अनुपयोग के कारण वे अविकसित या घायल न रह जाएं। इन्द्रियों और स्मृति के उपयोग में लापरवाही के कारण अवलोकन की क्षमता का बहुत अधूरा विकास हुआ है। उदाहरण के लिए, बारह व्यक्तियों के समूह को कहो कि वे दो घंटे पहले इकट्ठे देखी हुई किसी चीज का स्मृति के आधार पर वर्णन करें। सब के विवरण एक-दूसरे से और वास्तविक घटना से बहुत भिन्न होंगे।

वह सिखाने का उदाहरण — आँख जो देखती है, मन जो अनुभव करता है, उस की प्रतिकृति तैयार करने की शिक्षा हाथ को दी जाए। अंत:करण में जो है उसे पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकने के लिए वाणी को प्रशिक्षित किया जाए।

पहला काम है, बच्चे के जीवन में कर्म और ज्ञान के लिए रस पैदा करना; उस के ज्ञान के साधनों को संपूर्ण रूप से विकसित करना, जिस माध्यम का वह उपयोग करने वाला है उस पर उसे पूरा अधिकार दिलाना।

मनुष्य की सभी इन्द्रियों की संवेदनशीलता को निर्बाध बनाने में प्राणायाम अत्यंत सहायक है। देखने, सुनने, सूँघने, छूने, रस लेने या संज्ञाहीनता की अलग-अलग दुर्बलताएं (किसी चोट लग जाने के कारण आई हुई, या स्वत: कम विकसित रहने से) ठीक की जा सकती हैं। बल्कि उसे तेज भी कर सकती हैं। इसी को योग-भाषा में *नाड़ी-शुद्धि* कहा जाता है।

---

2. व्यवहार भी दिखाता है कि सभी व्यवस्था समान रहते भी कोई उत्कृष्ट प्रदर्शन करता, कोई नहीं। फिर, ड्रॉप-आउट्स भी महान आविष्कार कर डालते हैं। आदि।

स्नायु-तंत्र (नर्व्स सिस्टम) की क्रियाओं में सभी विकृतियों/कमियों की जड़ स्नायु वाहिकाओं में किसी भावनात्मक बाधाओं तक पहुँचती मिलती है। इस का एक मात्र उपाय है स्थिरता की आदत, अभ्यास से स्नायुओं की स्थिरता। यह भी नाड़ी-शुद्धि से आ सकती है।

छठी इन्द्रिय या *मानस* इन्द्रिय भी है, वाहक भी।

यदि स्नायु वाहिकाएं शान्त और परिष्कृत हों, तब कोई संभावित बाधा मन से ही आ सकती है। बुद्धि के साथ संपर्क के लिए यही वाहक है। पाँचों इन्दियों से मिली सूचना यही *बुद्धि* को देता है। (इन्द्रिय रूप में वह भी अन्य इन्द्रियों की तरह स्वत: पूर्ण है, पर) वाहक रूप में उस में बाधा या विकृति आ सकती है।

मानस की संवेदनशीलता के पूर्ण विकास को ही *सूक्ष्म-दृष्टि* कहा गया है। टेलीपैथी, अतींद्रिय दर्शन, अतींद्रिय श्रवण, पूर्व-बोध, पर-विचार अनुमान, पर-चरित्र ज्ञान, आदि मन की पुरानी क्षमताएं हैं।

यह विचारों को सीधे ग्रहण करता है, परन्तु रूप, ध्वनि, आदि के लिए अन्य इन्द्रियों पर भी निर्भर करता है। जिस से इन्द्रियों द्वारा मिली सही सूचनाएं भी बुद्धि तक यथावत् नहीं पहुँचती, या विकृत होकर पहुँचती हैं।

मन की ये शक्तियाँ, मानस क्षमता में कमी, भूलों का शक्तिशाली स्त्रोत है। पर, शिक्षा में इस के विकास को कभी कोई स्थान नहीं मिला।

फिर भी, इस का कोई कारण नहीं कि मन को बुद्धि के आगे ठीक-ठीक विवरण रखने की शिक्षा क्यों न दी जाए? ताकि हमारा चिंतन यदि संपूर्ण तथ्यों-भावों (full impressions) से नहीं तो कम से कम बिलकुल सही तथ्यों (absolutely correct impressions) से आरंभ करे।

रेखांकन — हाथ से रेखांकन करते हुए किसी चीज की नकल बनाने से सटीक अवलोकन की क्षमता बनती है। यह रेखांकन की पहली उपयोगिता है। और अपने अंगों के सही प्रशिक्षण के लिए यह अपने आप में इस की पर्याप्त उपयोगिता है।

मन के प्रशिक्षण में ध्यान को एकाग्र करने की आदत सब से पहली चीज है। शिक्षक को इस पर ध्यान देना चाहिए। उदाहरण — फूल का वर्णन, फिर विभिन्न फूलों का, फिर तुलना, आदि। मनोरंजन की तरह करें, न कि बोझिल काम जैसे।

स्मरणशक्ति और मूल्यांकन करने (memory and judgement) की क्षमता अगले गुण हैं, जिन पर बच्चों को अधिकार करने के लिए प्रेरित करना उचित है। इन्हें भी अनायास रूप में ही।

स्मरण करने के लिए वही पाठ याद करने, बार-बार दुहराने का तरीका अपनाना जरूरी नहीं। वह यांत्रिक, बोझिल, अरुचिकर तरीका है।

उस के बदले, बच्चे को कोई अन्य फूल देकर, उसी सावधानी से इस की विशेषताओं को जानने के लिए कहना चाहिए। जिस में स्पष्ट उद्देश्य हो कि वह अन्य फूलों से उस की समानता और विभिन्नता को ध्यान रखना सीखे।

ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर वैज्ञानिक रूप से पूर्ण, स्वाभाविक अधिकार पाने की तैयारी बचपन में इस प्रकार भिन्न प्रकार की चीजों के अवलोकन, तुलना, स्मरण, और मूल्यांकन द्वारा इन्द्रियों के प्रशिक्षण से न की जा सके। एक बार रुचि जाग्रत हो जाए तो अपने अवकाश काल में बालक स्वयं अपने युवोचित उत्साह में इस का अभ्यास करता रहेगा।

मूल्याकंन की उत्कृष्टता के लिए बच्चों को अपने मूल्याकंन की दूसरों के मूल्याकंन से तुलना करने का आदी बनाया जाना चाहिए। यह सर्वोत्तम विधि है। जब उस का मूल्याकंन गलत हो तो पहले उसे यह बताना चाहिए कि कितनी दूर तक वह सही था, और क्यों उस से आगे गलती हुई। फिर उसे प्रोत्साहित करना चाहिए कि वह आगे से स्वयं उस बिन्दुओं को देख सके। जब भी वह सही हो तो उस का ध्यान इस पर दिला कर उसे प्रोत्साहित करना चाहिए। ताकि उस में आत्मविश्वास पैदा हो।

विषम में सम तत्वों की पहचान (analogy) - तुलना और विपरीत गुणों के अवलोकन (compare and contrast) के साथ-साथ विषम चीजों में समान दिखते तत्वों को पकड़ने की क्षमता भी विकसित करानी चाहिए। इस के लिए प्रेरित करने के बाद विद्यार्थी स्वयं ऐसी तुलनाएं और तर्क-वितर्क करने लगेगा।

शारीरिक शिक्षा

अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य और खेल-कूद शिक्षा का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष होना चाहिए। यह न केवल किसी की मानसिक, बौद्धिक क्षमताओं के भी सुचारू विकास के लिए आधार है, अपितु यह कई गुणों का स्वयं विकास करने में सहायक है। जैसे, अच्छा सहज स्वभाव, सहिष्णुता, सब का प्रति सहृदय रहना,

प्रतिद्वंदियों के प्रति उचित और मित्रवत् रुख रखना, नियम पालन के प्रति बिलकुल सावधान रहना, न्यायोचित व्यवहार करना और अनुचित व्यवहार से बचना, जीत-हार को बिना असहज या नाराज हुए समान भाव से स्वीकार करना, निर्दिष्ट निर्णायकों का निर्णय सहज स्वीकार करना, आदि। यह गुण केवल खेल-कूद में ही नहीं, जीवन के लिए भी मूल्यवान हैं।

उस से भी बढ़कर, अनुशासन, आज्ञापालन, सुव्यवस्था, टीम-भावना की आदत विकसित करने के गुण हैं। क्योंकि इन के बिना सफलता अनिश्चित या असंभव होती है। जीवन में, और राष्ट्रीय जीवन में भी सफलता, जीत, या किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह गुण आवश्यक हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इन की आवश्यकता है।

इस प्रकार, संपूर्ण और सर्वोच्च शिक्षा भी शरीर की शिक्षा के विकास के बिना पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रीय जीवन के लिए भी। राष्ट्रीय जीवन में मजबूती के लिए तथा विजय, सफलता, औऱ महानता पाने के लिये ही नहीं, सामञ्जस्यपूर्ण वैश्विक सुव्यवस्था बनाने में योगदान के लिए भी किसी राष्ट्र में ऐसे गुणों का उत्कृष्ट श्रेणी में होना आवश्यक हैं।

विवेक-बुद्धि की शिक्षा

बच्चे की शिक्षा को यदि अधूरा और एकतरफा नहीं रखना है तो मानव रूपी यंत्र में विवेक बुद्धि, intellect, की पूर्णता आवश्यक है। वरन, इसे उन की उच्चतम और विशुद्धतम सीमा तक पहुँचाना होगा। विवेक-बुद्धि की शिक्षा को नैतिक और भावनात्मक प्रकृति की पूर्णता से अलग रखना भी मानव विकास के लिए हानिकारक होता है।

विवेक-बुद्धि ही भेद, तुलना, वर्गीकरण, सामान्यीकरण करती, अर्थ निकालती, और निष्कर्ष लेती है (distinguish, compare, classify, generalise, deduce, infer, conclude)। ये सभी क्रिया-कलाप विवेक-बुद्धि के अंग भाग हैं। इस क्षमता के पूर्ण विकास के लिए लिए दाएं और बाएं हाथ दोनों की क्षमताओं का विकास आवश्यक है।

दाएं हाथ की क्षमता व्यापक, सर्जनात्मक, समन्वयात्मक (comprehensive, creative, synthetic) होती हैं। इस में — निर्णय करना, मूल्यांकन करना, कल्पना करना, स्मरण रखना, तथा अवलोकन करना (judgment, imagination,

memory, observation) के कार्य शामिल हैं। यह सभी बातों, स्थितियों को समझती है, आज्ञा देती है, अधिकारपूर्वक निर्णय लेती है, आत्मसात करती, और उपयोग करती है।

बाएं हाथ की क्षमताएं आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक (critical, analytic) कार्यों से जुड़ी हैं। इस में तुलना करना, तर्क करना (comparison, reasoning) शामिल हैं।

बाएं हाथ की क्षमता सेवक है, जो जानकारी–ज्ञान का शरीर भर छूती है। दाएं हाथ की क्षमता स्वामी है, जो जानकारी–ज्ञान की आत्मा में प्रवेश करती है।

बायाँ हाथ केवल निश्चित तथ्यों, सत्यों तक सीमित रहता है। दायाँ उसे भी पकड़ता है जो दुर्ग्राह्य, अश्चित या पकड़ से बाहर है। मानव विवेक की पूर्णता के लिए दोनों आवश्यक हैं।

कल्पना–शक्ति और तर्क–क्षमता

कल्पना–शक्ति भी तर्क और विवेक के साथ–साथ एक महत्त्वपूर्ण क्षमता है। इस के तीन अंग–कार्य हैं। *मानसिक चित्र बनाना,* रचनात्मक विचार करना, *उपलब्ध बातों विचारों छवियों की नकल/आवृत्ति करना या उन से नये योग बनाना,* तथा दुनिया में चौतरफा फैली किसी *चीज, किसी सौंदर्य, आकर्षण, महानता, छिपे संकेत, भावनाओं, और भाविक आध्यात्मिक जीवन की मूल आत्मा पहचान सकना।* यह क्षमता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी बाह्य चीजों का अवलोकन और तुलनाएं करने की क्षमता।

तर्क क्षमता के विकास के लिए प्राय: तर्क–शास्त्र पढ़ाया जाता है। यह प्रचलित भूल का एक उदाहरण है जिस में किसी वस्तु को महत्त्व देने के बदले उस के बारे में पुस्तकीय–जानकारी को महत्त्व दिया जाता है। जबकि उदाहरण और वास्तविकता से नियम को जानने–समझने की ओर बढ़ना चाहिए। फिर आगे बढ़कर ऐसे विभिन्न नियमों के एकत्रीकरण के साथ उस विषय के विज्ञान की ओर। न कि विज्ञान से नियम, और नियम से उदाहरण की ओर शिक्षण।

तर्क–क्षमता के प्रशिक्षण में विचारों से सफलतापूर्वक बरत सकने से पहले शब्दों को बरत सकने की क्षमता बनानी आवश्यक होती है। इस के बाद ही तब बच्चे को प्रस्थापनाओं के सहारे सही–सही विचार कर सकना सिखाया जा सकता

है। पर कैसे? तर्कपूर्ण विचार बिना प्रस्थापनाओं के नहीं चल सकते। या तो तथ्यों से निष्कर्ष की ओर, अथवा पहले से स्वीकारे हुए निष्कर्ष के आधार पर नये निष्कर्ष की ओर बढ़ना। तर्क देना (induce), किसी तर्क-तथ्य से निष्कर्ष निकालना (deduce), अथवा दिए गए तथ्यों, अवलोकनों से निहितार्थ प्राप्त करना (inference)।

सही तर्क-क्षमता बनाने के लिए तीन तत्वों का ध्यान रखना आवश्यक है —

1. अपने विचार-आरंभ के आरंभिक तथ्य या निष्कर्ष पूर्णत: सही होने चाहिए, 2. जिन तथ्यों-आँकड़ों से आरंभ किया जा रहा हो, वह संपूर्ण एवं त्रुटिहीन होने चाहिए, 3. उन्हीं तथ्यों-आँकड़ों से कोई अन्य निष्कर्ष निकलने की संभावना नहीं होनी चाहिए।

तर्कणा क्षमता में दुर्बलता उक्त तीन सावधानियों के प्रति लापरवाही और ढिलाई से पैदा होती है, जिस से बचा जा सकता है। कारण यह भी होता है कि सभी तथ्यों को पाने में कठिनाइयाँ आती हैं। उस से भी अधिक कठिनाई तथ्यों को संपूर्ण रूप में पाने में आती है। सब से अधिक कठिनाई सही निष्कर्ष के अतिरिक्त अन्य निष्कर्षों की संभावना मिटाने में आती है। यदि तथ्य संपूर्ण न हों, तो एक भी नया तथ्य किसी स्थापित निष्कर्ष को गड़बड़ा दे सकता है।

फिर भी, सावधानी और निष्ठा से प्रयत्न करने पर दुर्बलता की संभावना कम से कम की जा सकती है।

बच्चे के मस्तिष्क को तथ्यों से निष्कर्ष निकालने में रुचि लेने की और बढ़ाना चाहिए। कारण से परिणाम की ओर। इस विधि से मस्तिष्क के प्रशिक्षित हो जाने पर आगे जाकर बालक या युवा औपचारिक तर्क-शास्त्र पर सरलता से कुछ ही समय में अधिकार कर लेगा।

बौद्धिक प्रशिक्षण के तत्व

बौद्धिक प्रशिक्षण वृहत और कठिन है, किन्तु शारीरिक और चारित्रिक प्रशिक्षण से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। यद्यपि भारत में वर्तमान विश्वविद्यालयों ने इसी पर अपने को सीमित रखा है, फिर भी वे इस में कोई उपलब्धि नहीं दिखा सके हैं।

इस संबंध में लोग सामान्यत: कहते हैं कि नौकरी और कारोबार को शिक्षा का उद्देश्य बना देने से ऐसा हुआ। किन्तु यह भ्रामक तर्क है। यदि नौकरी के लिए डिग्री जरूरी है तो रहे, पर डिग्री देने के लिए भी यह आवश्यक बनाया जा सकता है कि छात्र को अच्छी शिक्षा मिले। यदि संस्कृति और सही विज्ञान की शिक्षा अपरिहार्य बना दी जाएगी तो विद्यार्थी उसी पर अधिकार करने के लिए प्रयत्न करेंगे।

सभ्य देशों में शिक्षा के उद्देश्य में ज्ञानार्जन का भी स्थान है, किन्तु इस में वह भाव भी रहता है कि व्यक्ति को समाज में अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए, या किन्हीं लाभकारी या सम्मानजनक स्थान पाने के लिए भी शिक्षा आवश्यक है। परन्तु भारत में हम ऐसे बर्बर हो गए हैं कि अपने बच्चों को सब से क्षुद्र उपयोगितावादी नीयत से स्कूल भेजते हैं जिस में शुद्ध ज्ञान अर्जन की चाह का कोई स्थान नहीं रहता। पर जो शिक्षा हम पाते हैं वह भी इस की दोषी है। किसी में बुरी शिक्षा के लिए में कोई नि:स्वार्थ उत्साह नहीं हो सकता।

इस बुराई का स्त्रोत कुछ और है। हमारे देश में एक मूलभत और दु:खद भूल यह है कि जानकारी प्राप्त करना और उस की व्याख्या को संकीर्ण और एकतरफा रूप में शिक्षा समझ लिया गया है। छात्र को जानकारी/ज्ञान देना आवश्यक है, किन्तु उस से भी अधिक आवश्यक है उस में ज्ञान की शक्ति निर्मित करना। जैसे, किसी बढ़ई को केवल लकड़ी काटने का हुनर सिखा दिया जाए और कुर्सी, टेबल, आदि बनाना न सिखाया जाए। हमारी शिक्षा यही करती है। बच्चे की स्मरणशक्ति को प्रशिक्षित करते हुए उसे तथ्यों और उधार के विचारों से भर देती है। स्मरणशक्ति मानो कुल्हाड़ी, और जानकारी का ढेर लकड़ी है। वह इतना ही करता रहता शिक्षा पूरी कर लेता है। तो वैसा बढ़ई लकड़ी का व्यापारी तो बन जा सकता है, पर साधारण बढ़ई भी नहीं बन सकता। उसी प्रकार, हमारा शिक्षित अच्छा क्लर्क, सामान्य वकील, चिकित्सक, आदि तो बन जाएगा परन्तु कुछ असाधारण प्रतिभाओं को छोड़ कर कभी भी महान प्रशासक, विधिवेत्ता, या विशिष्ट चिकित्सक नहीं बन सकेगा। यह स्थान यूरोपियन लोग ही लेंगे। किसी भारतीय को ऐसे स्थान पाने के लिए हजारों मील दूर यूरोप जाकर उदार ज्ञान, मौलिक साइंस और सुगढ़ संस्कृति के वातावरण में साँस लेना होगा। और फिर भी वह कभी-कधार ही सफल होगा क्योंकि उस के फेफड़े एक अच्छी लंबी साँस लेने के लिए दुर्बल हैं।

पहली मूलभूत भूल यह हुई है कि हम ने अपने प्रशिक्षण को स्मरण-भंडारण

और जानकारियों तथ्यों के भंडारण तक सीमित कर लिया है। तथा उन तीन व्यावहारिक क्षमताओं के प्रशिक्षण की उपेक्षा की है, जो हैं *विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता, तुलना व विभेद करने की क्षमता, तथा अभिव्यक्ति की क्षमता।* ये क्षमताएं किसी न किसी मात्रा में सब को नैसर्गिक मिलती हैं, यद्यपि विकसित राष्ट्रों के उच्च वर्गों में विशेष रूप से विकसित रहती हैं। किन्तु यह क्षमताएं कितनी भी अच्छी क्यों न हों, उन्हें बढ़ाने बनाने की आवश्यकता रहती है।

शिक्षा का वास्तविक सार इन्हीं तीनों प्राकृतिक क्षमताओं को बाहर लाकर विकसित करना है। यदि यह युवावस्था तक ही नहीं किया गया तो इन में जंग लगता जाता है और वे धूल खाने लगती हैं। फलत: वे दुर्बल, संकीर्ण, और आंशिक ही काम करती हैं।

कोई विशिष्ट प्रतिभा फिर भी उस उपेक्षा को पार पा ले सकती है, किन्तु तब भी वही प्रतिभा उन गुणों में प्रशिक्षित होकर और उत्कृष्ट परिणाम पा सकती है।

किसी में जानकारी और तथ्यों का भंडार जमा कर लेना अपने आप में सब से महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि जो हम जान सके हैं उन का सर्वोत्तम उपयोग कर सकना महत्त्वपूर्ण है। हमारे शिक्षाशास्त्रियों की यह मान्यता कि मस्तिष्क को केवल विविध प्रकार की जानकारियों की पूरी मात्रा दे देनी है, और मस्तिष्क स्वयं विकसित हो कर अपना उपयुक्त मार्ग प्राप्त कर लेगा, एक अवैज्ञानिक बात है। यह मानवीय अनुभवों और सभ्य देशों की सार्वभौमिक राय से भी विपरीत है।

बल्कि, किसी भी महान देश का बौद्धिक पतन हमेशा उन्हीं तीन गुणों के क्षरण से आरंभ होता है – विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता, तुलना और विभेद करने की क्षमता, तथा अभिव्यक्ति की क्षमता। जब वे इन की तुलना में ढेर सारी जानकारी एकत्र करना ही पर्याप्त समझ लेते हैं। भारत ने अब तक जो भी खोया हो, हम ने अपनी बौद्धिक सजगता, तेजी, और मौलिकता को बचा कर रखा है। किन्तु यह अंतिम उपहार भी वर्तमान विश्वविद्यालयी व्यवस्था में खतरे में आ गई है, और यदि यह चली जाती है तो यह अपूरणीय पतन और हमारी आमूल समाप्ति का आरंभ होगा।

चारित्रिक गुणों की शिक्षा

भारत के जनसाधारण की गरीबी असंख्य पर्चों, भाषणों और समाचारपत्रों

के लेखों का विषय रही है। किन्तु हम इस गरीबी के केवल आर्थिक पक्ष पर ही आदान-प्रदान करने के अभ्यस्त रहे हैं। पर इस का नैतिक पक्ष भी है जो उस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत का कृषक वर्ग अपनी श्रेष्टतर धार्मिकता, विनम्रता, सौम्यता, पवित्रता, मितव्ययिता और जन्मजात बुद्धिमत्ता के कारण यूरोप के कम सभ्य आम लोगों से अपनी पृथक पहचान रखता रहा है।

शिक्षा में चारित्रिक गुणों का विकास बच्चों की सहज प्रवृत्ति, एवं रुचि के अनुसार करना उपयुक्त है।

आर्यों, अर्थात् भद्र जनों, सज्जनों के गुण। प्रत्येक व्यक्ति की कार्य-रुचि के अनुसार इस प्रकार के गुणों की विशेष महत्ता है:

(अध्ययन-अध्यापन वृत्ति में लगे) ब्राह्मणों के लिए - ज्ञान-पिपासा, आत्मोत्सर्ग, पवित्रता, त्याग। (The thirst for knowledge, the self-devotion, the purity, the renunciation)।

(राज-काज और शासन चलाने में लगे लोगों) क्षत्रिय के लिए - साहस, स्वाभिमान, उदात्तता, शौर्य, देशभक्ति। (the courage, ardour, honour, nobility, chivalry, patriotism)। (उद्योग-व्यापार में लगे लोगों) वैश्य के लिए - उपकारिता, कौशल, उद्योग, उदारतापूर्ण उद्यम, मुक्तहस्तप्रवृत्ति। (the beneficence, skill, industry, generous enterprise, large open-handedness)। (सेवा क्षेत्र में लगे लोगों) शूद्र के लिए — नि:स्वार्थ और प्रेमपूर्ण सेवा। (self-effacement, loving service)[3]

इस प्रकार, हरेक बच्चे में जो भी गुण (moral temper) प्रबल है - उसे फलने-फूलने का अवसर, और आत्म-प्रशिक्षण, अभ्यास की व्यवस्था करना शिक्षा में शामिल होना उचित है।

साथ ही, उस में शरीर या मन संबंधी जो दुर्बलताएं हैं, उन्हें राजयोग के संयम, निरोध और विकल्प-प्रस्थापना विधि से दूर करने के लिए प्रोत्साहित करना।

यही अपने राष्ट्र को महान बनाने का मूलाधार है।

---

3. आज की शब्दावली में उक्त चारो प्रकार के नागरिकों को शिक्षक; रक्षा-सुरक्षा कर्मी व राज-शासक प्रशासक; व्यापारी उद्योगपति; तथा सेवा क्षेत्र के लोग कहा जा सकता है। जिन में उन गुणों की विशेष उपयुक्तता मानी जा सकती है।

शिक्षा की सही पद्धति

दुर्योगवश, मानव जाति ने अपने बच्चों की शिक्षा में, प्रकृति की प्रक्रियाओं में बाधा डालने और उन्हें व्यर्थ कर देने का काम चुना है। अभी तक, इसे सुधारने का मार्ग नहीं मिला है।

हम में यह साहस होना चाहिए कि अधिक स्पष्ट ज्ञान को अपना सकें और निर्भय होकर आगामी पीढ़ियों के लाभ के लिए उस का उपयोग करें।

फुटकर पढ़ाई (vicious principle of teaching by snippets) का सिद्धांत अनुपयुक्त है।

आधुनिक मन का बहुत सा छिछलापन, असंबद्ध छिछोरापन, और चंचल अस्थिरता (shallowness, discursive lightness, fickle mutability) इसी के कारण है। अत: फुटकर विषयों की पढ़ाई को मृत दु:खों के कबाड़खाने (the lumber-room of dead sorrows) में डाल देना चाहिए।

यह दूर हो सकता है, इस के व्यावहारिक उपाय करना संभव है। इस से हानि के बदले आगे चल कर बच्चे को भी लाभ होगा। उस की क्षमताएं बढ़ेंगी ही।

इस तरह, नियमित अध्ययन करने में जो देर लग जाएगी, उस की कमी वह तेजी से ज्ञानार्जन करके कर लेगा। जहाँ आज वह कुछ ही चीजें और बुरी तरह सीखता है, वहाँ बहुत सी चीजें एकदम अच्छी तरह सीख लेगा।

मातृभाषा ही शिक्षा का उचित माध्यम है। इसलिए बच्चे की पहली शक्तियाँ उसी पर अधिकार करने में खर्च होनी चाहिए। जब अपनी ही भाषा में भाषाई क्षमता भली-भाँति विकसित न हुई हो तब तक अन्य भाषाओं पर अधिकार पाना असंभव है।

हर बच्चे में कल्पना-शक्ति, शब्दों के लिए नैसर्गिक प्रवृत्ति, नाटकीय क्षमता, तरह-तरह के विचारों का धन, आदि होते हैं। इन्हें अपने देश के महान साहित्य से जोड़ देना सर्वोत्तम कार्य है। पहले तो रस लेने की दृष्टि से।

मूर्खतापूर्ण और शुष्क वर्तनी की पुस्तकों की तुलना में, उसे क्रमश: अपने साहित्य के सब से रुचिकर अंशों और आस-पास के तथा पीछे के जीवन, इतिहास, से उसे जोड़ना चाहिए। यह सब इस रूप में प्रस्तुत करना चाहिए कि उपरोक्त गुणों के प्रति आकर्षण बढ़े।

इस प्रारंभिक अवधि में बाकी सारा अध्ययन मानसिक क्षमताओं और नैतिक चरित्र को पूर्ण करने में लगाना चाहिए। यही शिक्षा की नींव का निर्माण

है। मानसिक क्षमता को पहले चीजों पर लगाना चाहिए। उस के बाद शब्दों, और विचारों पर।

बच्चे की नैसर्गिक क्षमताओं – मजेदार वर्णन–प्रेमी, वीर–पूजक, प्रश्नकर्ता, शोधकर्ता, विश्लेषक, निर्दय शरीरशास्त्री, बौद्धिक उत्सुकता, तत्व–ज्ञान का खोजी, अनुकरण करने, कल्पना–शक्ति, आदि को सहज आकर्षित करो। इन का धीरे–धीरे उपयोग करके उसे अपने आपको और जगत को समझने की ओर प्रवृत्त करो। इस से उस के अंदर के ज्ञानी, आविष्कारक, कलाकार, योद्धा, आदि को रूप लेने का आधार मिलेगा।

भाषा के प्रति हमारा व्यवहार बहुत उथला रहता है। जबकि शब्दों के प्रति सूक्ष्म समझ के अभाव में बुद्धि दुर्बल होती है और मानसिक गतिविधियों के सत्य और धार को सीमित कर देती है।

मस्तिष्क को शब्दों को ध्यान से पहचानने, जानने का अभ्यास करना चाहिए। उस के रूप, ध्वनि, और भाव को। फिर दूसरे भावों से तुलना करके समान और असमान बिन्दुओं को देखना चाहिए। इस तरह, व्याकरण की समझ का आधार बनता है। फिर समानार्थक शब्दों में सूक्ष्म भेद की समझ, और विभिन्न वाक्य बनाने और उन की लय महसूस करने, इस तरह साहत्यिक और वाक्य–विन्यास की क्षमता का आधार बनना। यह सब अनौपचारिक रूप से सिखाना चाहिए। बच्चों की उत्सुकता और रुचि के सहारे। बने–बनाए सूत्र और रटाने से बच कर। सच्चा ज्ञान पहले चीजों पर ध्यान रखता है, फिर उस के अर्थ पर और जब वह चीज को ठीक से पकड़ समझ लेता है तब उस के प्रति विचार बनाता है।

संगीत, कला और कविता मिलाकर आत्मा के लिए एक हर प्रकार से पूर्ण शिक्षा है। जो शिक्षा कलात्मक प्रशिक्षण को विशेषज्ञों के अधिकार के रूप में अलग न रखकर, उसे स्पष्टत: संस्कृति के एक भाग के रूप में, साहित्य और विज्ञान से कम आवश्यक न मानकर उस का समावेश करती है, उस ने राष्ट्रीय शिक्षा को पूर्णता प्रदान करने में एक बड़ा कदम बढ़ा लिया है।

शिक्षा में सुधार के लिए

इसलिए, शिक्षा में सब से पहला सुधार शिक्षा के संपूर्ण उद्देश्य और पद्धति में मूलभूत परिवर्तन करना है। शिक्षकों को इस का अभ्यस्त बनाना कि वे अपनी नब्बे प्रतिशत ऊर्जा उन सक्रिय मानसिक क्षमताओं को विकसित करने में लगाएं।

जबकि स्मरण रखने की निष्क्रिय क्षमता, जिसे स्मरण-शक्ति कहते हैं, उसे दोयम परन्तु स्वाभाविक स्थान देकर रखना होगा। हमें अपने स्कूलों और विश्वविद्यालयी परीक्षाओं को निर्देश देना होगा कि वे इन्हीं क्षमताओं की परीक्षा लें, न कि स्मरण-शक्ति की। क्योंकि यह ऐसा उद्देश्य है जो केवल पाठ्यचर्या में बदलाव करके नहीं पाया जा सकता।

यद्यपि कुछ विषय ऐसे हैं जो किन्हीं विशिष्ट सक्रिय क्षमताओं को विकसित करने में अधिक उपयुक्त होते हैं। जैसे, सटीक विवेक का प्रयोग भूगोल, तर्कशास्त्र, और राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन से हो सकता है। भाषा अध्ययन का एक सब से महत्त्वपूर्ण परिणाम अभिव्यक्ति की शक्ति का प्रशिक्षण (बनाया जा सकता) है। जबकि इतिहास के अध्ययन से तुलना और विभेद करने की शक्ति जितनी बढ़ सकती है उतनी किसी अन्य विषय से नहीं। किन्तु भाषा के अतिरिक्त कोई विषय अपरिहार्य अनिवार्य नहीं है, न ही किसी क्षमता विशेष के विकास के लिए विशेष उपयुक्त। कुछ विशेष मस्तिष्क ऐसे होते हैं जो, उदाहरण के लिए, भूगोल की समस्याएं हल करने में, या तर्कशास्त्र की औपचारिक प्रणाली से दो-चार होने में अपनी बनावट से ही असमर्थ होते हैं, किन्तु फिर भी अन्य बौद्धिक क्षेत्रों में गहन, प्रखर, और सटीक होते हैं।

किन्तु जानकारी संग्रह करने वाले संकीर्ण क्षेत्र में भी, जिस में हमारी शिक्षा सीमित हो गई है, उस में भी बड़ी अन्य बड़ी गंभीर भूलें हैं।

गणित को छोड़ दें, जो अपनी स्वतंत्र हस्ती रखता है, तो सभी जानकारियों को दो बड़े भाग में विभक्त कर सकते हैं। चीजों के बारे में जानकारी, और लोगों से संबंधित जानकारी, अर्थात् मानवीय विचार चिन्तन, मानवीय क्रिया-कलाप, मानव स्वभाव, मानवीय रचनाएं, जो चित्र, साहित्य, दर्शन और कला में दर्ज होती हैं। इन अंतिम चार को मानविकी में रखा जाता है। यही पहले उदार शिक्षा का विषय होते थे, जिन में बाद में गणित भी जोड़ा गया। फिर आधुनिक युग में थोड़ा बहुत साइंस भी।

इस प्रकार, ज्ञान परिवार की तीन बहनें हैं — मानविकी, गणित, और साइंस। कोई भी आत्मसम्मानी शिक्षा व्यवस्था इन तीनों में किसी एक में पारंगत होना सिखाएगी, जिस के साथ अन्य दोनों की भी सामान्य जानकारी रहे। इस में हमारी शिक्षा की पहली बड़ी भूल यहाँ सामने आती है। जहाँ हम अपने छात्रों को एक कठोर परीक्षा व्यवस्था से सभी विषयों में पास कराना जरूरी मानते हैं, वहीं उन्हें किसी भी विषय में वास्तविक ज्ञान नहीं देते।

नैतिक और धर्म शिक्षा

नैतिक और धर्म शिक्षा की अवहेलना करने से मानवजाति भ्रष्ट हो जाती है।

परन्तु, यह नैतिक और धार्मिक पुस्तकें पढ़ाने की बात नहीं है। वह तो निस्सार भ्रांति है। यांत्रिक और कृत्रिम से तो अच्छाई व्यवहार में नहीं आती। (भावना, संस्कार, और स्वभाव से संबंधित अभ्यास आवश्यक)।

यूरोपीय पद्धति ने शिक्षक को भाड़े के प्रशिक्षक या हितकारी पुलिस भर बना दिया है।

इन से नैतिक प्रशिक्षण मिलना असंभव सा ही है।

नैतिक प्रशिक्षण का पहला *नियम* है — सुझाव देना, निमंत्रित करना ।

उस का *तरीका :* व्यक्तिगत उदाहरण, रोज की बातचीत, रोज पढ़ी जाने वाली पुस्तकें। जैसे, छोटे बच्चों के लिए — प्राचीन काल के महान उदाहरणों की पुस्तकें, कथाएं। मानवीय रुचि, रस के रूप में, न कि नैतिक सीख, उपदेश देने के लिए। ऊँची कक्षा के विद्यार्थी के लिए — महान आत्माओं के महान विचार, महान पुस्तकों के अंश, जो सर्वोत्तम भावनाओं को जगा सकें, महान आदर्शों, प्रेरणाओं को उद्दीप्त करें, इतिहास के वैसे प्रसंग और जीवनियाँ जो उन महान विचारों, भावनाओं, आदर्शों का मूर्त रूप प्रस्तुत करें।

यह ऐसा सत्संग[4] है जो निष्प्रभावी नहीं रह सकता।[5] बशर्ते आडंबरपूर्ण उपदेशों से बचा जाए।

---

4. महान ब्रिटिश चिंतक और लेखक जॉन रस्किन (1819–1900) ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान 'ऑफ किंग्स ट्रेजरीज' (1864) में बड़ी रोचक शैली में असंख्य महापुरुषों के साथ ऐसे सत्संग का उल्लेख किया है, जो पुस्तकालयों की सुंदर जिल्दों में उपस्थित रह कर नित्य सच्चे सत्संगी युवाओं, पाठकों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। वह व्याख्यान लड़कों की शिक्षा पर ही केंद्रित है। लड़कियों की शिक्षा पर उन का अन्य व्याख्यान 'ऑफ क्वीन्स गार्डेन्स' (1865) भी अत्यंत रोचक और प्रसिद्ध है। रस्किन की कुछ संबंधित टिप्पणियों के लिए देखें, परिशिष्ट।
5. रॉबर्ट मेनार्ड हचिन्स (1899–1977) का अनुभव, संदेश, और उन के जीवन का सब से बड़ा काम भी यही था। वे दो दशकों तक शिकागो विश्वविद्यालय के अध्यक्ष रहे थे। शिक्षा जगत के अपने लंबे अनुभवों के बाद उन्होंने युवाओं और नागरिकों की सामान्य शिक्षा के लिए 54 खंडों में 'ग्रेट बुक्स ऑफ द वर्ल्ड' प्रकाशित की।

धर्म की शिक्षा भी नैतिकता का अंग है। यह कोई धर्म सूत्र पढ़ाने,या रटाने जैसी बात नहीं है। वैसा करना तो यूरोपीय भूल है। जो या तो कोई प्रभाव नहीं डालता, या कट्टरवादी जड़-अभ्यासवादी, अथवा पंडिताई ढोंगी पाखंडी बनाता है।

कथित राष्ट्रीय शिक्षा में धर्म शिक्षा को जरूरी कहकर भी उस के अनुष्ठानों को प्रतिबंधित रखना अज्ञानजनित भ्रम है। यह सेक्यूलरिज्म को खुश करने (a sop to secularism) के लिए किया गया।

जबकि प्रार्थना, श्रद्धांजलि, समारोह, आदि क्रिया-कलाप आध्यात्मिक विकास की तैयारियाँ होती हैं, जिन कार्यों की बहुत लोग चाह रखते हैं। यदि उसे न भी करें, तो किसी प्रकार का ध्यान, श्रद्धा, मनन, आदि को धर्म शिक्षा के अंग में रखना चाहिए।

शिक्षा में धर्म को रखा जाए या नहीं, किन्तु उस का सार तत्व — कि ईश्वर, मानवता, देश, तथा औरों के लिए जीने को ही अपना जीवन बनाना — हरेक विद्यालय के लिए आदर्श बनाना आवश्यक है, जो स्वयं को राष्ट्रीय कहता है। धर्म की यही भावना हमारे राष्ट्रीय विद्यालयों का सार-तत्व होना चाहिए। यह तत्व शिक्षा में भारतीय विषयों, पद्धतियों या हिन्दू विश्वासों, धर्म-पुस्तकों को पढाने से भी बढ़कर है जो हमारे विद्यालयों को दूसरों से भिन्न दिखाएगी।

उन्होंने भी ऐसे अध्ययन को, कुछ जॉन रस्किन की तरह ही, महान ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ 'ग्रेट कनवर्सेशन' का नाम दिया था। उन पुस्तकों का पहला खंड इसी शीर्षक से है, जिस में उन्होंने महान पुस्तकों के अध्ययन को ही सच्ची शिक्षा का अनिवार्य अंग बताया था। वास्तविक शिक्षा के ह्रास पर उन के कुछ महत्त्वपूर्ण, और हमारे लिए भी विचारणीय अवलोकनों के लिए देखें, परिशिष्ट।

5.
स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अच्छे जीवन का अर्थ

समाचार पत्रों से रोज यह बात साफ हो जाती है कि आज की शिक्षा संस्थाओं का हमारे जीवन में और जो योग हो, वे ज्ञानोपार्जन का क्षेत्र नहीं रही हैं। बल्कि अब शायद कोई वहाँ ज्ञानोपार्जन के लिए आता भी नहीं – इस के बावजूद कि जो आते हैं उन में से बहुत से वास्तव में अपनी ज्ञान वृद्धि करना चाहते हैं।

वह प्रश्न जो युवा स्नातकों के लिए स्मरणीय, विचारणीय है कि वह क्या है जो हमारे जीवन को 'वर्थ ह्वाइल' बनाता है? क्या है जो जीवन का गुणात्मक मूल्य निर्धारित करता है? 'अच्छी जिन्दगी बसर करना' हर कोई चाहता है, पर 'अच्छी जिन्दगी' क्या होती है? उस की अच्छाई की कसौटी क्या है, उस का आधार क्या है? क्या भौतिक सुविधाओं से हमारी जिंदगी अच्छी हो जाती है? क्या मोटर, टीवी सेट, 'फॉरेन मेक' का 'मिक्सी ब्लैंडर' उस के आधार हैं? या दूसरे, अधिक निजी स्तर पर, चेहरे और त्वचा के प्रसाधन, नकली बालों के खोंपे, नली जैसे तंग या थैली जैसे चौड़े पैंट-पजामे? या और एक स्तर पर पालतू विलायती कुत्ते या तोड़ मरोड़ कर बोली गई हिन्दी या कोई भी मातृभाषा, या हर तीसरे बरस की विदेश यात्रा? कठोपनिषद के नचिकेता की तरह मैं इतना गहरा प्रश्न नहीं उठाना चाहता कि 'क्या इन से हमें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है?' प्रश्न को मैं मानवीय – और आप चाहें तो कह लें कि लौकिक – मानवलोकीय – स्तर पर ही रखना चाहता हूँ। यहाँ, इस लोक में, इसी जीवन में, क्या है जो हमारे जीवन का गुणात्मक मूल्य, उस की क्वालिटी निर्धारित करता है? या दूसरे शब्दों में, हम में क्या है, या हो सकता है, जिस से हम अपने इस जीवन की क्वालिटी को उन्नततर बना सकें?

यह प्रश्न उस क्षेत्र का है जहाँ व्यक्ति अकेला होता है: इसलिए उत्तर प्रत्येक अपने लिए अपने जीवन से पाता है या पा सकता है। मैं दो-एक घटनाएं आप के सम्मुख रखता हूँ जिन में दूसरों के ऐसे अकेले साक्षात्कार ध्वनित होते हैं। हो सकता है इस से आप को अपने-अपने पथ निर्धारित करने में कुछ सहायता मिले।

पुरानी बात है: पहाड़ों में घूमते हुए मैं एक झोंपड़े में गया था जहाँ एक गिरिजातीय बुढ़िया अस्वस्थ पड़ी थी। ग्रंथिवात से उस के अंग विकृत हो गये थे - उठना या करवट लेना भी उस के लिए अत्यंत कष्टकर था। पर वह काम कर रही थी, और निरंतर करती थी! मैंने - सहानुभूतिवश - उस से एक मूर्खता भरा प्रश्न पूछा, 'माई, क्या बहुत तकलीफ है?' उस ने कहा, 'बेटा, दर्द तो बहुत रहता है! पर तकलीफ - वह तो मन की चीज है, जितना मान लो उतनी होती है!' मैं थोड़ी देर उसे एकटक देखता रहा, फिर मन ही मन प्रणाम कर चला आया।

ध्यान दें, दर्द (pain, hurt, ache) के बावजूद मैं तकलीफ (suffering, distress, misery) में नहीं हूँ, ऐसा सोचना केवल धैर्यपूर्वक और बिना शिकायत के यंत्रणा भोगने से अधिक कुछ है। मैं दर्द में हूँ मगर तकलीफ में नहीं हूँ — यानी कि मैं दर्द से अलग भी कुछ हूँ; कि जो दर्द मैं भोग रहा हूँ, उसे मैं बाहर से भी देख रहा हूँ। एक मैं हूँ जो मेरा शरीर है जो रोगग्रस्त है; एक मैं हूँ जिस का वह शरीर है और जो उस शरीर की यंत्रणा को देख रहा है, पर उस से आक्रांत नहीं है। अर्थात्, मैं केवल अनुभव की प्रयोगशाला का प्रयोगाधीन चूहा नहीं हूँ बल्कि उस चूहे का अध्ययन करने वाला वैज्ञानिक शोधक भी हूँ, भले ही मेरी वैज्ञानिक दीक्षा इतनी नहीं है कि मैं अपने पर्यवेक्षणों का सही सही अध्ययन और आकलन करके उपयुक्त सिद्धांत का प्रतिपादन कर सकूँ। उपनिषद के डाल पर बैठे हुए दो पक्षी। मैं फल खाने वाला पक्षी भी हूँ और उसे देखने वाला पक्षी भी — और जब मैं दोनों को देख सकता हूँ तो स्पष्ट है कि मैं द्रष्टा अधिक हूँ — कि दूसरे के साथ ही मेरी एकात्मकता अधिक है।

दूसरी घटना : यह अभी कुछ महीने पहले[6] की है। (जापान में) एक सम्मेलन के भीड़ भरे कार्यक्रम के बाद मन को धोने के लिए एक जापानी बंधु

6. यह 1972 ई. का प्रसंग है।

के साथ एक झरनों भरे वन प्रदेश की यात्रा कर रहा था – दिन भर की यात्रा! घूमते घूमते मैं बार-बार दृश्य में खो जाता था, फिर चौंक कर शिष्टाचार का तकाजा याद करता था – कि बंधु को साथ रखना चाहिए! शिष्टाचार में जापानी भी भारतीयों से कम नहीं होते, इसलिए मेरे साथ भी बार-बार थोड़ा पिछड़ जाते थे कि मेरे एकांत वन-सेवन में उन की उपस्थिति के कारण कोई बाधा न हो! एक बार मैंने अचानक मुड़ कर देखा, मेरे साथी भी केवल शिष्टाचार वश पीछे नहीं थे – उन के चेहरे का भाव बता रहा था कि वह भी वनांत की शोभा के साथ संपूर्ण तादात्म्य की अवस्था में हैं! उन की संयत, समाहित मुद्रा, सधा हुआ विनत शरीर, नियंत्रित, प्राय: शब्दहीन पदचाप (और यह इस के बावजूद कि शिशिर ऋतु में पगडंडियां झरे सुनहरे पत्तों से पटी हुई थीं और हर पग पर उस बिछे सोने का बज उठना स्वाभाविक होता!) सब इंगित कर रहे थे कि वह भी एक आनन्द में खोये हैं, लेकिन ऐसे कि मेरे समांतर आनन्द लाभ में कोई बाधा न पहुँचे!

इन दो छोटी छोटी घटनाओं का यहाँ साथ उल्लेख मैं खास मतलब से कर रहा हूँ। मेरी समझ में दोनों वैसे व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने एकांत साक्षात्कार में ऐसे तत्वों को पहचाना जो जीवन को गुणात्मक समृद्धि देता है, जिन्होंने इस प्रकार वह आभ्यंतर समृद्धि पायी जिस की संभावना मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ।

श्रेय:कांक्षी धर्मवान् का मूल्य निरपेक्ष नहीं है बल्कि स्वयं मूल्य है; उस का सत्य मानव सत्य है और इसी अर्थ में सनातन है। और मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि यह मूल्य मानव का सिरजा हुआ मूल्य है। हमारा जीना उन चीजों से सार्थक, मूल्यवान, वर्थ ह्वाइल है जिन के लिए हम मर जाने को तैयार हैं! जितनी और जैसी, सही या मजबूत यह पहचान हम में होती है, उतना ही हमारा जीवन समृद्ध होता है, चाहे जिस भी अवस्था में हम हों; उतना ही एकांत साक्षात्कार भरा-पूरा और हमें सब से जोड़ने वाला होता है, चाहे कितने ही अकेले हम हों!

आप, नये स्नातक, उसी यात्रा के समारंभ बिन्दु पर आज हैं! इस यात्रा का लक्ष्य अपनी पहचान है, इस लिए वह अपने को ही मुक्त करने का अभियान है। आप की आज तक की शिक्षा-दीक्षा उसी की तैयारी है। जहाँ यात्रा चुकती नहीं, शुरू होती है।

उन भविष्यत् यात्राओं में यह शिक्षा आप के किस काम आ सकती है, उस में जो त्रुटियाँ रहीं – अगर रहीं, और अवश्य ही रही होंगी, क्योंकि आज

तो सिद्धांतत: भी शिक्षा वैसी श्रेष्ठ की साधना, पर्स्यूट ऑफ एक्सेलेंस, नहीं रही है जिस की बात यूनानी दार्शनिक गुरु करते थे; फिर व्यवहारत: श्रेष्ठता कहाँ से आएगी!

व्यावहारिक शिक्षा का अर्थ

चालू शिक्षा की एक त्रुटि तो यह है ही कि वह 'व्यावहारिक' नहीं है। पर व्यावहारिक हम किसे[7] कहें? और हम क्या वास्तव में निर्द्वंद्व, असंदिग्ध भाव से यह कह भी सकते हैं कि शिक्षा को उस अर्थ में 'व्यावहारिक' होना चाहिए जिस में बहुत से लोग समझ लेते हैं? क्या 'व्यवहार' की बजाय 'संदर्भ' की बात करना ही ज्यादा संगत और उचित न होगा? शिक्षा जीवन संदर्भ से कटी हुई न हो, यह माँग सर्वथा उचित है। और यह भी उतना ही सच है कि आज की शिक्षा का अधिकतर भाग ऐसा ही है – जीवन संदर्भ से कटा हुआ और इस लिए अर्थहीन। वह हमें जीवन के योग्य नहीं बनाता, बनाने में कोई योग नहीं देता, बल्कि हमारी सहज योग्यता को भी कुंठित ही करता है। पर 'व्यावहारिक' का – या 'जीवन के योग्य बनाने' का भी! अर्थ यह समझा जाए कि वह हमें नौकरी के योग्य बनाए, तो क्या हम बहुत बड़ी भूल नहीं कर रहे होंगे?

आखिर जो शिक्षा आरंभ से ही केवल डिग्री के लिए थी, उस के बारे में किसी ने कोई भ्रम पाला क्यों? और अगर केवल डिग्री की दरकार नहीं थी, तो शुरू से ही वैसी शिक्षा पर एतराज क्यों नहीं किया? दूसरे ढंग की शिक्षा की माँग क्यों नहीं की?

यह किसी भी शिक्षा की सब से कड़ी आलोचना है कि उस की इतिश्री नौकरी पाना भर रह जाये। जीवन मूल्यों का कैसा विकृत बोध है यह कि शिक्षा से हमारी अपेक्षा यह हो कि हमें नौकरी दिला देगी!

---

7. ठीक यही प्रश्न जॉन रस्किन ने भी अपने प्रसिद्ध शैक्षिक व्याख्यान 'ऑफ किंग्स ट्रेजरीज' (1864) में इतने ही आग्रह के साथ उठाया था, युवाओं के बीच व्याख्यान में ही, कि शिक्षा का उद्देश्य जो 'एडवान्समेंट इन लाइफ', 'गेटिंग इन्टू गुड सोसायटी' समझा जाता है, वह क्या है? उस का सत्य और उस के भ्रम क्या हैं? रस्किन की बातों की तुलना अज्ञेय की बातों से कर के इस विषय की सचाई, गहराई और स्थायी प्रासंगकिता समझी जा सकती है। इस बिन्दु पर रस्किन के मूल विचारों के लिए देखें, परिशिष्ट।

यह इसलिए नहीं कि नौकरी चाहने में कोई दोष है। यह बात बिलकुल स्पष्ट होनी चाहिए। जीवन निर्वाह के साधन का अधिकार हर किसी को है, और उस की व्यवस्था हर किसी के लिए होनी चाहिए।

पर जब शिक्षा नौकरी के लिए और पति प्राप्ति के लिए वांछित हो जाती है तब युवा व्यक्तित्व की क्या गति हो रही होती है? इस तरह की शिक्षा तो उस सेक्योरिटी को लक्ष्य बनाती है जो परनिर्भरता से मिलती है। कहने को कहते हैं – सा विद्या या विमुक्तये – पर माँगते हैं वह शिक्षा जो केवल परनिर्भरता चाहती है! जो विद्या मुक्त नहीं करती, वह विद्या नहीं है; जो शिक्षा स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करती, उस के निर्माण में योग नहीं देती, वह व्यर्थ है।

साक्षर और शिक्षित

साक्षरता प्रसार के आग्रह में बहुत दूर तक साक्षरता और शिक्षितता का भेद अनदेखा कर दिया गया है; और साक्षरों की संख्या बढ़ाने में हम शिक्षितों का अनुपात और कम करते गये हैं। पुराने निरक्षर भी उतने कम शिक्षित नहीं थे; आज बहुत से साक्षर, बल्कि सुपठित साक्षर भी प्रायः अशिक्षित हो गये हैं, क्योंकि वे पहले से कम स्वतंत्र व्यक्तित्व-संपन्न हो गये हैं – उन का व्यक्तित्व भी क्षीणतर हुआ है, उन का विवेक भी कुन्द हुआ है, उन का स्वातंत्र्य भी कुंठित और नये जीवन के प्रति अनुकूलन की उन की शक्ति और प्रतिभा तो और भी जर्जर हो गयी है।

भारतीयता और वैश्विकता

वर्तमान भारतीय शिक्षा के अंग्रेजी संस्कार के कारण क्या आप (नये स्नातक) की शिक्षा ने आप को विशिष्टता प्रदान करते हुए आप को उस हद तक अभारतीय बना दिया होगा – क्या आप की शिक्षा आप के और साधारण भारतीय जन के बीच एक दीवार बन कर खड़ी होगी? क्या आप की शिक्षा ने आप को साधारण भारतीय से तोड़कर अलग कर दिया है? अगर ऐसा है तो वह आप की, आप की शिक्षा की और सारे देश की एक बड़ी हार होगी।

कुछ लोग अपने को देश से यों कटा हुआ पाकर अपने को यह कह कर दिलासा देते हैं कि 'क्या हुआ, वे विश्व नागरिक हो गये हैं।' पर यह दम दिलासा

ही है; अपने को दम देना ही है। देश से टूट कर विश्वनागरिकता नहीं मिलती; देश से एकात्म होकर उस की सीमा का अतिक्रमण करने से मिलती है। जैसे कोई गूँगा होकर विश्वभाषा-भाषी नहीं बनता; एक भाषा में अपने को पूरी तरह संप्रेष्य बना कर ही बन सकता है। आज हमारे शिक्षितों में अनेक हैं जो शिक्षा के कारण ही देश से और जन से कट गये हैं – और इस लिए उस शिक्षा के फलवती बनाने की संभावना से कट गये हैं।

फिर शिक्षित हो कर आप प्रतीक्षमान कोटि कोटि जनता के लिए क्या लाए हैं? शिक्षा को उपयोज्य तो होना ही होगा। उपयोज्य किसी स्थूल अर्थ में नहीं; आत्मोन्नति भी उपयोगिता की परिधि में आ जाएगी यदि वह आत्मोन्नति शून्य में नहीं है और उस का प्रकाश दूसरे तक भी पहुँच सकता है – यानी अगर शिक्षा दीवार नहीं बन चुकी है।

पर भारतीयता से जुड़े रहने में यह भी चुनौती है कि मूल्यों की पहचान के साथ आप का संकल्प दृढ़ हो कि आप अपने जीवन और समाज में सही मूल्यों की प्रतिष्ठा करेंगे और विकृतियों का उन्मूलन करेंगे। क्योंकि जैसे उज्ज्वल मूल्य हमारी संस्कृति में सुरक्षित हैं, वैसे ही दारुण विकृतियों के मैल से भी हमारा समाज पपड़ियाया हुआ है।

स्वतंत्र और निर्भय होकर चलें – स्वतंत्रता के लिए निर्भय होकर चलें! यह पहचानते हुए चलें कि स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए हमें अपने आप को दे देना है, और अपने आप को दे देने से ही स्वतंत्रता मिलती भी है। विवेकानन्द के एक उद्बोधन के शब्दों में: हमारे हाथ मुक्त हों, हमारा हृदय मुक्त हो, हमारी बुद्धि मुक्त हो – इस से बड़ी सफलता न हमारी शिक्षा हमें दे सकती है, न हम अपनी शिक्षा को दे सकते हैं।

प्रासंगिकता और मूल्य-बोध

जिस ने जीवन में ऐसा कुछ नहीं पहचाना जिस के लिए मरा भी जा सकता है, उस ने वास्तव में ऐसा भी कुछ नहीं पहचाना जिस के लिए जिया जा सकता है। उन का जीना मानव जीवन नहीं है, केवल एक जैविक संयोग है। मानव स्वाधीन इसीलिए है, इसी में है कि वह स्वेच्छा से जीवनदान कर सकता है।

हमारी दृष्टि, भारतीय ज्ञान परंपरा की दृष्टि यह है कि मृत्यु जीवन से अलग नहीं है, जीवन की जो समग्र प्रक्रिया है उसमें जैसे जन्म लेना अनिवार्य है वैसे

मरना भी अनिवार्य है। तो अगर जन्म लेना कोई अनोखी बात नहीं है, तो मरना भी कोई अनोखी बात नहीं है। हम को उसे, उसी एक लम्बी प्रक्रिया के एक अंग के रूप में स्वीकार करना चाहिए। पश्चिम विज्ञान की दृष्टि से तो यह नहीं कह सकता कि मनुष्य मरणशील नहीं है, सभी प्राणी मरणशील हैं लेकिन फिर भी वह मृत्यु को भरसक स्वीकार नहीं करना चाहता, अपनी चेतना के क्षेत्र में भी नहीं आने देना चाहता। और उस की सभ्यता की, उस के मनोविज्ञान की, बहुत सी समस्याएं इस से पैदा होती हैं।

जिजीविषा तो जीव मात्र का धर्म है, जिस में पशु भी सम्मिलित हैं: उसे 'स्वस्थ' और 'मानवीय' कहकर विशिष्ट करने का अभिप्राय यही है कि वह पशु मात्र की 'बने रहने' की मूल प्रवृत्ति से बढ़कर, मानव मूल्यों के बीच और साथ जीने की आकांक्षी थी — थी भर नहीं, है। रूढ़ि-प्रेमी और अंधविश्वासी वर्ग भी इस देश और समाज में रहा है; बड़े-बड़े अन्याय इस देश में और समाज में मूल्यों और परंपराओं के नाम पर होते रहे हैं और आज भी होते हैं; पर जिस देश और समाज के अधिसंख्य निरक्षर अंग का धर्म भाव भी स्वाधीन चेतस् और न्यायसंगत आचरण को इतना महत्त्व देता है और उस आदर्श से स्खलन को इतने दो टूक ढंग से तिरस्कृत करता है, उस देश में शासकीय अनुशासन से महत्तर एक आत्मानुशासन भी है जिस पर हम सब को गर्व करना चाहिए। अनुशासन की आवश्यकता सदैव है; जो देश जितना ही बड़ा है, जितना ही समर्थतर और स्वाधीनतर होता है, उसे अनुशासन की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है - पर वह अनुशासन अंधे प्रतिबन्धों से नहीं, अंतरालोकित संस्कार से आता है। उस संस्कार और उस आलोक का संबल लेकर हमें निष्ठापूर्वक अग्रसर होना है।

मानव अपने से बड़ा कुछ बनाता है, मानव मूल्यों का स्रष्टा है - इस से एक और मानव मूल्य निरूपित हो जाता है। स्वाधीनता के बाद दूसरा मानव मूल्य यही है यही सर्जकत्व — मानव *स्वाधीन* है और मानव *सर्जनधर्मा* है।

समाज के जीवन में ऐसा भी समय आता है जब कि पूरा का पूरा समाज ही संदेह की हवा में बह जाता है — एक अनास्था की हवा बहती है कि कुछ भी अर्थ रखने वाला प्रतीत नहीं होता। कभी कभी लगता है कि हम लोग जिस समाज में जी रहे हैं, शायद ऐसी ही कोई हवा — या कि कहें वबा — बह रही है, बीमारी फैल रही है; कोई मूल्य नहीं हैं बल्कि एक आपाधापी है जिस

के सिवा दुनिया में कोई मूल्य नहीं हैं। सब संदिग्ध हो गया और पशु ***जीवन*** ही एक मात्र प्रमाणिक जीवन है, *सर्वाइवल* ही अंतिम और चरम मूल्य है; जीवन से बड़ा कुछ नहीं है, उस के लिए जो करना है वही करो; जैसे बच सको, जैसे जी सको, जैसे आराम पा सको, वही एक मात्र उद्देश्य है।

शिक्षा की बुनियाद - भाषा

बच्चों को अपनी भाषा पहले अच्छी तरह सीखनी चाहिए। अपनी भाषा और अन्य देशी-विदेशी भाषाओं का का श्रेष्ठ साहित्य भी, यथासंभव मूल भाषा में पढ़ते रहना चाहिए। जिस की जितनी रुचि और योग्यता हो। यह सभी शिक्षा का मूलाधार है।

श्रेष्ठ साहित्य का पर्याप्त अध्ययन नहीं करने से बच्चों की अभिव्यक्ति क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि भाषा की समझ और उस पर पकड़ अंततः श्रेष्ठ साहित्य की भाषा से ही प्राप्त होती है। मन में उठने वाले हर मनोभाव और बात को सटीक शब्दों और अच्छे वाक्यों में बोलने, लिखने की क्षमता एक बहुत बड़ी शक्ति है। अतः बच्चों की शिक्षा में अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार उस की सब से बड़ी भलाई है।

शिक्षा की भाषा की समस्या हमारे देश में उलझ कर रह गई है। कारण है कि हम ठीक-ठीक नहीं समझते कि भाषा के साथ मनुष्य का संबंध क्या है? इस के प्रति भ्रामक समझ पूरी स्थिति को उलझाती है। वस्तुतः हम भाषा को नहीं बनाते, पहले भाषा ही हमें बनाती है। यह बहुत बाद में होता है जब भाषा की साधना करने वाले सरस्वती के कुछ वरद्-पुत्र भाषा को भी बनाते हैं। पर मूल बात यह है कि जिस भाषा को हम जन्म से ही सहज रूप में सुनते, जानते, सीखते हैं, जिस के परिवेश में रहते हैं, उसी से हमारी पहचान बनती है। उसी से हम गढ़े जाते हैं। यदि उसी भाषा की उपेक्षा करके बचपन से ही किसी अन्य भाषा की आराधना की जाए, तो ज्यादातर यही होता है कि बच्चे किसी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाते। उन का व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है।

इस प्रकार, भाषा मनुष्य की अस्मिता से जुड़ी होती है। हमें सदैव यह प्रश्न पूछना चाहिए — आप की अस्मिता, आप के होने, आप की पहचान की भाषा क्या है? इस के बाद ही दूसरी बातों को अधिक स्पष्टता से समझना संभव होगा। बच्चों के भविष्य की चिंता भी इस के प्रकाश में करनी चाहिए। उन्हें हम क्या,

कैसा बनाना चाहते हैं? मात्र मनीमेकर, मर्सिनरी या आत्मनिर्भर, आत्मवान, गौरवपूर्ण मनुष्य? यदि वह अपने वास्तविक समाज और परिवेश की भाषा को गंभीरता पूर्वक, उच्च महत्त्व देते हुए नहीं सीखता — तो वह और जो कुछ बने, आत्मवान मनुष्य बन सकेगा, इस में संदेह है।

मनुष्य की आत्मनिर्भरता केवल आर्थिक ही नहीं, भावनात्मक और मानसिक भी होती है। यह केवल धनी बन जाने, किसी बड़े कारोबार का उत्तराधिकारी होने या जीवन-यापन के लिए कोई लाभकारी पद प्राप्त कर लेने मात्र से नहीं होती। यदि इसे हम समझ सकें तो बच्चों की शिक्षा में भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञान के प्रति उतने ही चिंतित रहेंगे जितने गणित और विज्ञान के लिए।

आहार-निद्रा-मैथुन और जीवनयापन तो पशु-पक्षी भी करते हैं। मनुष्य इस से बढ़कर मूल्यों की सृष्टि करते हैं। ऐसे मूल्यों की जिन के लिए त्याग और प्राणों तक के बलिदान को भी उचित समझते हैं। यही मनुष्यत्व है। इस अर्थ में भी भाषा और संस्कृति की शिक्षा शिक्षा का आनुषांगिक नहीं, बल्कि केंद्रीय अंग होने चाहिए। मात्र मनीमेकर बनाने वाली दृष्टि, जो आज संपूर्ण शिक्षा-जगत को ग्रस चुकी है, बच्चों और युवाओं की दूरगामी हानि करना है।

जहाँ तक हिन्दी भाषा की स्थिति है, इस बारे में प्राय: हिन्दी की गलत परिभाषा से आरंभ होता है। भारत के अंदर कथित हिन्दी प्रदेश की संज्ञा एक दोषपूर्ण धारणा है। हिन्दी यहाँ किसी प्रदेश के जीवन के साथ एकात्म नहीं है। यह किसी क्षेत्र-विशेष की भाषा नहीं है, जैसे तमिल, बंगला, मैथिली, भोजपुरी आदि हैं। जिसे विचार-विमर्श में गलती से हिन्दी प्रदेश कह दिया जाता है, वह वस्तुत: कई विशिष्ट भाषाओं का अपना-अपना सहज क्षेत्र है। जैसे, अवधी, अंगिका, मगधी, मैथिली, ब्रज, कुमाऊँनी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, आदि। इन सब को हिन्दी क्षेत्र कहना इसलिए भी चलता है क्योंकि यह सभी भाषाएं प्राय: देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं, और सुनने में हिन्दी के निकट लगती हैं। इस कारण इन सभी भाषाओं को हिन्दी या हिन्दी की विविध बोलियाँ समझ लिया जाता है। पर यदि बंगला या गुजराती को भी देवनागरी में लिखें तो वह मैथिली या मगधी जैसी ही हिन्दी के निकट या दूर लगेगी।

उदाहरण के लिए, भारत का राष्ट्र-गीत और राष्ट्र-गान दोनों ही विशुद्ध बंगला गीत और गान हैं। परन्तु देवनागरी में लिखे जाने पर वह किसी हिन्दी भाषी को अबूझ नहीं लगता। वही स्थिति तेलुगु या पंजाबी के साथ भी है। अत:

हिन्दी किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है, उसे ऐसा राजनीतिक दलबंदियों की प्रेरणा के कारण भी कहा जाता है। परन्तु वस्तुत: आधुनिक हिन्दी भारत के सभी भाषा-भाषियों के सम्मिलित योगदान से बनी है। उस की कोई विशिष्ट या अलग शब्दावली नहीं है, जो देश की अन्य भाषाओं से भिन्न हो। इसीलिए वह पूरे भारत में बोली, समझी जाती है। अतएव, वह या तो पूरे भारत देश की भाषा है, या कहीं की नहीं। यही हिन्दी की पहचान और भूमिका है।

यही कारण है कि हाल के युग में हिन्दी का विकास राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ हुआ था। हिन्दी को अपनाने, बढ़ाने की माँग ब्रिटिश-राज के विरुद्ध संघर्ष के दौर में कलकत्ते, बंबई, अहमदाबाद आदि स्थानों से आरंभ हुई थी। उस ने देश की सभी भाषाओं के संगम से अपना वर्तमान रूप लिया है। देश में विभिन्न क्षेत्रों के लोगों द्वारा विविध कार्यों के लिए प्रयोग किए जाते रहने के कारण ही यह स्वभावत: आधुनिक भी है। क्योंकि यह भारतवर्ष की समग्र संस्कृति की संवाहिका है। देश की किसी भी भाषा में कुछ नया, मूल्यवान आता है तो हिन्दी ही उसे लेकर पूरे देश में प्रसारित करती रही है। इस प्रकार, 'क्लियरिंग हाऊस' का भी काम करती है। यह काम पहले के जमाने में भी होता रहा था।

देश में हिन्दी का विरोध बड़ा या गहरा नहीं है। जहाँ है वहाँ भी वहीं तक जहाँ भारतीय अस्मिता की भी उपेक्षा या अनदेखी है। अन्यथा देश के विराट साधारण जनसमुदाय के काम आने वाली इस सार्वक्षेत्रीय भाषा के विरोध का अन्य कोई कारण नहीं मिलता। इन सभी बातों पर विचार करके हिन्दी के प्रति अपनी दृष्टि बनानी चाहिए।

दूसरी ओर, अंग्रेजी को प्रमुखता मुख्यत: विशेषाधिकारी, संकीर्ण स्वार्थ प्रवृत्ति, और सत्ता के मोह के कारण अधिक रही है। यह अधिकांश भारतीय लोगों की सहज चाह नहीं, अपितु विवशता में है। किन्तु यदि यही क्रम रहा तो हम स्वतंत्र रूप से प्रगति करने के बदले पश्चिम के पिछलग्गू ही रहेंगे, वरन कई क्षेत्रों में पिछड़ते भी जाएंगे। आधुनिक राष्ट्र बनने की चाह में अंग्रेजी का वर्चस्व, एकाधिकार बढ़ाना अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, अपनी दृष्टि को खो देना ही रहा है। आत्महीन, दृष्टिहीन होकर कोई कितना बढ़ सकता है यह विचारने की बात है। हमारे जीवन में अंग्रेजी का बढ़ता प्रभाव किस्तों में आत्मघात है। अगर देश एक सांस्कृतिक इकाई नहीं है, यदि उस में अस्मिता का बोध नहीं है तो आर्थिक उन्नति करते हुए भी हमारी सामाजिक स्थिति दुर्बल होती जा सकती है।

विगत दशकों में देश का और हमारा अपना अस्मिता-बोध दुर्बल हुआ है। अंग्रेजी की बढ़त ने हमें अपनी परंपराओं, संस्कृति, साहित्य, भाषा ही नहीं अपने लोगों और प्रदेशों से भी भावनात्मक दूर किया है। इस प्रकार, कई पहलुओं से हमारी सांस्कृतिक एकता दुर्बल हुई है। भाषा का प्रश्न इन सभी बातों से गहरे जुड़ा है।

देश में मौलिक चिंतन की संभावना कम से कमतर होती जा रही है। सभी विषयों में प्राय: विदेशी भाषाओं के पुराने, नए चिंतन का पहले अंग्रेजी में अनुचिंतन होता है। फिर उस का घटिया अंग्रेजी में अनुलेखन होता है। तब उस का जैसा-तैसा अनुवाद भारतीय भाषाओं में आता है। इसी तीसरे दर्जे की बौद्धिक सामग्री पर हमारी संपूर्ण शैक्षिक-बौद्धिक व्यवस्था चल रही है। इसी से हमारी नई पीढ़ी के कर्णधार, शिक्षाविद, पत्रकार, प्रशासक आदि बन रहे हैं। तब आम तौर पर उन में सामाजिक, राष्ट्रीय समस्याओं से लेकर दर्शन, साहित्य आदि किसी विषय में मौलिक चिंतन की क्षमता कहाँ से पैदा होगी ? यह गंभीरता से परखने की बात है।

इसी से जुड़ी स्थिति साहित्य की भी है। विश्व में उस साहित्य की कहीं कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं जिस में कोई सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। यहाँ प्रश्न भौगोलिक क्षेत्र का नहीं, बल्कि दृष्टि का है। हमारे लेखकों, कवियों, प्रोफेसरों के लेखन का अधिकांश किसी भूमि पर नहीं खड़ा है। जहाँ-तहाँ से बहकर आई खपच्चियाँ जोड़ कर बनाई गई बिन पतवार की नौका पर वह अनिश्चित तैर रहा है। उस में अपनी अनुभूत, अवलोकित, विचारित, सत्यनिष्ठ, प्रामाणिक बातें नगण्य हैं। ऐसा साहित्य मिथ्या आत्म-तोष भले दे, पर वह न टिक सकता है, न सम्मान पा सकता है।

भाषा कल्पवृक्ष है। श्रद्धापूर्वक जो उस से माँगो, वह देती है। यदि उस से कुछ माँगा ही न जाए क्योंकि उस से कुछ लटका हुआ नहीं दीख रहा है, तब तो कल्पवृक्ष भी कुछ नहीं देता। जिन्हें भाषा पर श्रद्धा है, वे उसी के माध्यम से अपने लिए और समाज के लिए भी उपलब्धियाँ हासिल कर सकते हैं।

लेखकों, विद्वानों को इस का महत्त्व समझना चाहिए कि भारत में अपनी भाषाओं में लिख कर जो तृप्ति मिलती है वह अंग्रेजी में लिख कर नहीं मिल सकती। क्योंकि कोई कृतिकार अपने माध्यम का उपयोग ही नहीं करता, उस की सृष्टि भी करता है। और हम जो हैं, उसी की सृष्टि कर सकते हैं। जिस से

हम बने हैं उसे पहचानते हुए उसे सच्ची अभिव्यक्ति दें तो वर्तमान और भविष्य हमारे हैं। नहीं तो हम कहीं के नहीं हैं। हम वही बन सकते हैं जो हम हैं। अपनी पहचान की भाषा पहचानें, स्वयं समृद्ध बनें।

हमारे लेखकों को जो सत्य दीखता है उस पर आचरण करना और उस के लिए जो दंड मिले उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि हिन्दी या तुलुगू आदि में लिखने, पढ़ने से कई सुख-सुविधाओं से वंचित किया जाता है तो उन के बिना ही जीने के लिए प्रस्तुत हों और इसी में गौरव अनुभव करें। इस का कोई विकल्प नहीं। इसी में हमारी और देश की भी गरिमा है।

भारत में विभिन्न भाषाओं की सशक्त उपस्थिति प्राय: एक समस्या के रूप में देखी जाती है। किन्तु यहाँ अपनी एक राष्ट्रभाषा पर जोर देने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी एक लिपि — देवनागरी — पर। देवनागरी में लिखी कन्नड़, गुजराती, आदि कोई भी भारतीय भाषा दूसरे भाषा-भाषी भारतीय को वैसे ही काफी समझ में आ जाएगी। भारतीय भाषाएं उतनी भिन्न नहीं है, न हिन्दी किसी एक प्रदेश की है। किंतु एक लिपि के रूप में किसी भी हाल में रोमन लिपि अपनाने की अनुशंसा नहीं करनी चाहिए। वह भारतीय भाषाओं की निश्चित मृत्यु का पहला कदम है।

किसी लेखक के लिए सर्वोपरि महत्त्व है कि वह अपने माध्यम की शक्ति और मर्यादा को पहचाने। शब्दों का दुरुपयोग रोके जो हमारी संवेदनाओं को कुंद बनाता है। शिक्षा में भाषा के इस पहलू की उपेक्षा हो रही है। 'समझ में आने लायक' के नाम पर भारतीय भाषाओं को दुर्बल बनाने या नीचे गिराने का काम नहीं होना चाहिए। भाषा शक्ति है। जिसे कोई शब्द, अभिव्यक्ति नहीं समझ में आई वह उसे सीखे यही उस के हित में है। न कि भाषा को नीचे लाना। इस बात पर भी ध्यान दें कि अंग्रेजी के मामले में सदैव विद्यार्थी को ही ऊपर उठने का निर्देश दिया जाता है। कि वह नई अभिव्यक्तियाँ सीखे, नए मुहावरे जाने, नए प्रयोग समझे। जबकि हिन्दी को 'आम-फहम' बनाने के नाम पर क्षुद्रता, संकरता के स्तर पर लाने में भी कोई संकोच नहीं किया जाता।

इतिहास-बोध और सांस्कृतिक गिरावट

यूरोपियनों की 'हिस्टरी' स्व-केंद्रित रही है। यह घटनाओं की वह क्रम-कथा है जो उन्हें अतीत में ही प्रतिष्ठित कर के देखती है। वे विगत की सभी

घटनाओं का अन्वेषण मात्र उस में अपना स्थान ढूँढने के लिए, अपने वर्तमान हेतु कोई सबक सीखने, आदि कारणों से करते रहते हैं।

बाहर से 'एक ही' जान पड़ने वाली घटना दो पृथक् व्यक्तियों द्वारा दो पृथक् और विशिष्ट रूपों में अनुभव की जाती है, क्योंकि दो गृहीता स्मृतियाँ तथाकथित 'एक' घटना को दो सम्पूर्णतया पृथक् और विशिष्ट सन्दर्भों में स्थापित करती हैं, उन्हें पृथक् और विशिष्ट स्मृति-संरचनाओं में गठित करती हैं, उन्हें अलग-अलग अर्थ और मूल्य देती हैं और दोबारा आह्वान के लिए अलग-अलग कोटियों अथवा वर्गों में रखती हैं।

हिस्टरी से नितांत भिन्न अवधारणा है इतिहास। अक्षरश: इति+ह+आस। अर्थात् ऐसा ही होता आया है। केवल तथ्यों का समूह — घटनाओं का क्रम-विवरण भी — इतिहास नहीं होता। घटना-क्रम के सन्दर्भ में मानव की अनवरत आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही इतिहास है। विगत को देखने-समझने की यह दृष्टि भारतीय बोध है। यह काल के उस आयाम को भी प्रस्तुत करती है जो आवर्ती है, सतत वर्तमान है और निरंतर अपना नवीकरण करता चलता है। अत: भारत का इतिहास-बोध यहाँ के विशिष्ट काल-बोध का प्रतिफलन है।

भारतीय इतिहास-बोध की विशेषता उस पहचान का प्रभाव है जो काल के एक इतिहासातीत आयाम को भी देखती है। यह पहचान भारतीय लोक-साहित्य को पश्चिम की *हिस्टरी* के काल से अलग, भारत के इतिहास के काल में रख देती है। भारतीय दृष्टि में काल की एक आवर्ती धारणा भी थी, जिस से शाश्वतता, नित्यता की बहुमूल्य धारणा चलती आई है। यहाँ नित्यता, शाश्वतता, 'इटर्निटी' का अभिप्राय एक **अंतहीन काल** नहीं है बल्कि एक **कालातीत आयाम** मात्र है। हमारी स्मृति किसी भी समय किसी घटना का पुनराह्वान कर सकती है और अतीत का पुनर्निर्माण कर सकती है, इस से उसे एक कालातीत आयाम मिल जाता है। इतना ही नहीं, स्मृति में किसी अनुभूति की **गुणात्मकता** अपने मूल रूप में सुरक्षित रहती है, यहाँ तक कि जिस **घटना** से वह अनुभूति सम्बद्ध है उस के प्राय: सम्पूर्णतया विस्मृत हो जाने पर भी अनुभूति की गुणात्मक छाप सुरक्षित बनी रह सकती है।

पश्चिमी पद्धति की — और हम क्यों भूलें कि अंग्रेजी-भाषा के माध्यम से दी गयी — शिक्षा के लिए यह स्वाभाविक होगा कि अमुक एक अवधि को 'ऐतिहासिक' माने, उसी आधार पर 'प्रगैतिहासिक' अथवा 'इतिहास-पूर्व' युगों

की अवधारणा करें और प्राचीनतर सब कुछ को 'पौराणिक' अथवा 'मिथकीय' वृत्तान्त के धुँधलके में डाल दिया जाये। क्या हमें बाध्य होकर 'ऐतिहासिक काल' की यही संरचना स्वीकार कर लेनी होगी?

यहाँ होने वाले आंदोलनों की जमीन भी हम यहाँ न खोज कर पश्चिम में खोजते हैं। रेल और तार की बात तो जाने दीजिए। यहाँ के राष्ट्रीय आंदोलन भी इस लिए शुरू हुए कि पश्चिमी शिक्षा ने हमें स्वाधीनता का महत्त्व सिखाया, हम में लोकतांत्रिक भावना जगायी! और भी आगे चलिए: हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले, उस के कारण जेल की यंत्रणाएं भुगतने वाले कवियों ने देश-प्रेम की कविताएं इस लिए लिखीं कि उन्हें प्रेरणा वाल्टर स्कॉट से मिली, उस संघर्ष से नहीं जिस में वे अनुक्षण जी रहे थे! यह उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूँ कि भारतीय साहित्यों के इतिहासों में ऐसा बताया गया मैं ने पढ़ा है; नहीं तो ऐसी मूर्खता की बात उल्लेख योग्य भी न होती।

किसी दूसरी संस्कृति ने सजग और चेतन रूप में इस बात पर इतना बल नहीं दिया कि सृष्टि मात्र में एक समग्रता लक्षित होनी चाहिए और संस्कृति को अनवरत रूप से उस समग्रता की ओर उन्मुख होना चाहिए।

अतीत के बारे में आज हम कहीं अधिक जानते हैं; लेकिन जितनी ही हमारी 'जानकारी' बढ़ती जाती है उतनी ही अतीत की 'अर्थवत्ता' मिटती जाती है। किसी नैरन्तर्य अथवा सम्पृक्त अस्मिता का बोध हमें नहीं होता। यहाँ तक कि हम प्राङमानवीय बन्दर से भी अपने सम्बन्ध के बारे में थोड़ा-बहुत — शास्त्रीय ही सही — उत्साह जगा सकते हैं, लेकिन स्वयं अपने सभ्य मानवीय अतीत से हमारा सम्बन्ध-विच्छेद अथवा अपरिचय सम्पूर्ण और लाइलाज जान पड़ता है।

आज इस तथाकथित भारतीय संस्कृति में भारतीय कुछ नहीं बचा है; संस्कृति भी लगभग नहीं बची है; आधुनिक कितना है यह बिलकुल संदिग्ध है; लेकिन इसी पर गर्व करने वालों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। और ऐसे लोग यत्नपूर्वक अपनी जीवन-परिपाटियों के सम्बन्ध में अपनी सारी जानकारी मिटाने में भी लगे हुए हैं मानो नया संस्कार न मिला तो न सही, पुराना तो मिट ही जाना चाहिए!

पश्चिम में पुराने संस्कारों का मोह बिलकुल नहीं है, लेकिन उस का ज्ञान पूरा है और ज्ञान बनाये रखने की चिंता भी पूरी है। वहाँ आप जानना चाहें कि

लोग पचास वर्ष पहले, सौ वर्ष पहले, दो सौ वर्ष पहले, तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ, हजार वर्ष पहले कैसे रहते थे, कैसे उठते-बैठते थे, कैसे खाते-पीते थे, किन उपस्करों का इस्तेमाल करते थे, तो प्रत्येक की पूरी और प्रमाणयुक्त जानकारी आप को मिल जायेगी — किताबी जानकारी, चित्र, मॉडल और खुले संग्रहालयों में संग्रहीत झोंपड़ी और गाँव-घर तक। और पुराने नगरों में जायें तो हर गली-कूचे, हर मकान, खिड़की-दरवाजे का इतिहास भी मिल जायेगा। सब कुछ बदलता जायेगा — और परम्परा अटूट भी बनी रहती चली जायेगी; क्योंकि विकास भी एक सांस्कृतिक मूल्य है और ऐतिहासिक क्रम-बोध भी एक ऐतिहासिक मूल्य है।

मगर यहाँ? इस प्रश्न को अनुत्तरित छोड़ देना ही कदाचित् सच्चाई के पूरे विस्तार को सामने ला सकेगा!

हम उन्नीसवीं शती के भी भारतीय जीवन के बारे में लगभग कुछ नहीं जानते — जो थोड़ा-बहुत जानते थे वह भी बड़ी तेजी से भूल रहे हैं। एक तरफ किसान और निर्धन आदिवासी का झोंपड़ा दो हजार वर्ष में जरा-सा भी नहीं बदला है; दूसरी ओर मध्य-वित्त के और साधारण नागरिक के बारे में हमारी जानकारी के आधार सर्वथा लुप्त हो गये हैं, यहाँ तक कि हम यह भी नहीं जानते या देख सकते कि सत्रहवीं-अठारहवीं का धनी भारतीय भी कैसे रहता था!

इतिहास शिक्षा और सांप्रदायिकता

हमारे जीवन की वस्तु चिन्तन की कोटियों और अनुभवों की कोटियों में बँटती रहती है। संस्कृतियों की टकराहट होने पर अनुभव और चिन्तन की कोटियों में दूरी आती जाती है। यह विभाजन दीर्घकालीन होने पर समाज का व्यक्तित्व विघटित होने लगता है और क्रमशः एक तरफ चिन्तन जड़ अथवा गतानुगतिक होता जाता है, दूसरी ओर सांस्कृतिक स्मृति-भ्रंश के कारण हमारे अनुभव का क्षेत्र संकुचित और हमारा अनुभव शिथिल और निर्जीव होता जाता है। यह जानी हुई बात है कि स्मृति का विघटन बुद्धि और व्यक्तित्व के नाश का कारण बनता है।

इतिहास की गलत समझ के कारण भी सांप्रदायिकता बढ़ी। इतिहास की गलत समझ पैदा करने के लिए मात्र विदेशी ही दोषी नहीं है, जिन्होंने अधूरा या संकीर्ण इतिहास लिखा और पढ़ाया। हम मूर्ख बने, यह कहना काफी नहीं

होगा। मगर विदेशियों ने अपना स्वार्थ साधा जरूर। पर ऐसा भी नहीं है कि इतिहास को उन्होंने हमेशा ही जानबूझ कर ही विकृत किया। इतिहास को गलत दृष्टि से देखा, तो उस का कारण यह भी था कि वे हमारे इतिहास को अपनी दृष्टि से देख रहे थे। मसलन, अगर ईसाई धर्मावलंबी तीन सौ साल तक क्रूसेड ही लड़ते रहे तो हिन्दुस्तान में उन के लिए यह समझने में कठिनाई पैदा हुई कि अनेक धर्मावलंबी एक समाज के रूप में कैसे रह सकते हैं। हमें ऐसा मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि हमारा इतिहास ऐसा रहा है।

हम समझते हैं कि अपने इतिहास के अनुज्ज्वल पक्ष की स्मृति मिटाकर हम उस के प्रभाव से मुक्त हो जायेंगे। जैसे कि जाति की स्मृति इतनी सतही होती है, जैसे कि प्रभाव इतने छिछले होते हैं, जैसे कि इतिहास ही इतना इकहरा होता है कि पिछली कड़ी से तोड़कर भी कुछ अर्थ रख सके! हमारा दैनिक अखबार ही हमारी कुल इतिहास-शिक्षा हो जाये, इस से बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा! पर वही हम कर रहे हैं। क्या ब्रितानी शासन के स्मृति चिन्ह हटा देने से यह तथ्य मिट जायेगा कि वह शासन यहाँ रहा? क्या उस के लक्षणों को आँखों-ओट करना चाहना ही उसे गहरे में बनाए नहीं रखता? मैं तो समझता हूँ उन की विशाल मूर्तियाँ हम ने एकत्र कर के कालक्रम से लगा कर प्रदर्शित की होतीं, तो हमारी मुक्ति भावना अधिक पुष्ट हुई होती, इतिहास-परम्परा का हमारा ज्ञान गहरा हुआ होता, आजादी का अर्थ भी हमारी समझ में ठीक-ठाक आया होता, और जिस पीढ़ी ने स्वयं आजादी के संघर्ष में भाग नहीं लिया था वह भी उस संघर्ष को सम्मान की दृष्टि से देख सकती और उस में गौरव का अनुभव कर सकती।

अच्छा हो कि पहले के विदेशी, अत्याचारी शासकों तक की मूर्तियाँ किसी संग्रहालय नुमा सड़क पर दोनों ओर लगा दी जाएं। उसे 'औपनिवेशिक इतिहास मार्ग' जैसा कुछ नाम दे दिया जाये, तो वह जीता-जागता इतिहास महाविद्यालय हो सकता है। उस से हम न केवल हम पिछली गुलामी के शासन की हीनता से मुक्त होंगे, वरन नई पीढ़ी को झूठे तर्क-वितर्कों की कुशिक्षा से भी छुटकारा मिलेगा। इतिहास को भुलाना चाह कर हम उसे मिटा तो सकते नहीं, उस को प्रेरणा देने की शक्ति से अपने को वंचित कर लेते हैं। स्मृति में जीवन्त इतिहास ही प्रेरणा दे सकता है।

परन्तु आज देश के विविध प्रभावशाली राजनीतिक समूहों में कोई नहीं

चाहता कि हमें कुछ याद रह जाए — क्यों कि कुछ याद न रहने पर ही यह संभव होता है कि प्रतिदिन जो हमें बताया जाता रहे उसे हम स्वीकार करते चलें। वही 'वैज्ञानिक सत्य' होगा, वही 'ऐतिहासिक तथ्य' होगा, वही 'आधुनिक दृष्टि' होगी, वही 'राष्ट्रवादी दृष्टि' होगी!

यह सत्य है कि स्मृतियों का दमन भी होता है। स्मृतियाँ भी जिन्दा दफनायी जा सकती हैं और दफनायी जाती हैं। ऐसी स्मृतियाँ मिटती नहीं; कालांतर में वे किस रूप में ज्वालामुखी होकर फट पड़ेंगी इस का अनुमान नहीं किया जा सकता। अनावश्यक बहुत-कुछ भूलते या भुलाते जाना मस्तिष्क की एक अनिवार्य आवश्यकता है। जैविक इकाई भी बहुत कुछ भुलाती है; जातीय समूह भी बहुत कुछ भुलाते हैं — उस सामूहिक रूप में ही वे एक 'जैविक इकाई' होते हैं जिस का एक जातिगत मस्तिष्क होता है। लेकिन दमित हो जाने से ये समृतियाँ प्राकृतिक क्रम में विलय नहीं हो पातीं; उन में ऊर्जा का ऐसा संचय होने लगता है जिस के परिणाम अपूर्वानुमेय हो जाते हैं।

अत: अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और ऐतिहासिक दृष्टि खो देना किस्तों में आत्मघात है, और तब देश आर्थिक प्रगति के बावजूद वेध्य बना रहेगा।

इसलिए भी हम नई पीढ़ी के बच्चों, युवाओं को सही इतिहास-बोध देने और इतिहास की सही शिक्षा के प्रति उत्तरदायी हैं।

... ये झुंड के झुंड चिट्टे-चिट्टे गाले
वास्तव में हमारे उन किशोर शिक्षार्थी बालकों के विश्वास-भरे
चमकते चेहरों की
सहसा विजड़ित की गयी आँखें हैं
जिन के नैतिक मान हम ने आधुनिकता के विस्फोट में उड़ा दिये
और जिन के शिक्षा-स्त्रोत हम ने वशातीत विषों से दूषित कर दिये हैं।

क्या यह इतिहास माँगा हुआ इतिहास है?
क्या यह विवेक का मुकुर भी माँगा हुआ है मुकुर है
और क्या यह मुझे लौटा देना होगा
इस से पहले कि वह टूट जाय?
मुकुर उत्तर नहीं देता:
न दे, मुकुर उत्तरदायी नहीं है।

इतिहास उत्तर नहीं देता, इतिहास भी उत्तरदायी नहीं है:
परम्परा भी उत्तरदायी नहीं है। चेहरा भी उत्तरदायी नहीं है।
पर झरोखे में से इतराता हुआ बहकी हवा का झोंका पूछता है:
मैं, मैं, क्या मैं भी उत्तरदायी नहीं हूँ?
इतिहास के प्रति, चेहरे के प्रति,
परम्परा के प्रति, मुकुर के प्रति —
बालकों के भवितव्य के भोले विश्वास के प्रति
क्या मैं उत्तरदायी नहीं हूँ?

सांप्रदायिकता और नैतिक शिक्षा

सांप्रदायिकता खत्म करने लिए गरीबी दूर हो, शिक्षा का प्रसार हो, इतिहास की सही शिक्षा हो और उस से समाज नीति को सही शिक्षा मिले। मानव समाज का और सब की परस्पर निर्भरता का एक नया चित्र सामने आये। दूसरे शब्दों में, एक नयी और उत्तरदायी नैतिक दृष्टि विकसित हो।

नीति की शिक्षा बिलकुल गायब हो गई है जो एक गलत बात हुई है। नीति से मेरा मतलब एथिक से है, एक मूल्यदृष्टि जो हमारे कर्मों का सही निर्देशन कर सके। नीति समाज से आती है, धर्म से आती है। मानव मात्र को नीति के बारे में सोचने का मौका मिलना चाहिए। इस लिए शिक्षा में नीति का प्रवेश जरूरी है। क्योंकि नीति बगैर ट्रेनिंग के नहीं आती। विज्ञान भी इस बात के लिए प्रशिक्षित करता है कि मनुष्य मात्र के लिए अच्छा क्या है। ब्राह्मण या क्षत्रिय की नीति के बारे में, या शिया या सुन्नी, या कैथोलिक या मेथोडिस्ट की नीति के बारे में सोच सांप्रदायिक हुआ। यह सोचना मनुष्य का सोचना नहीं है।

हमारी नैतिक शिक्षा जितनी होती है उतनी ही इस भ्रांत धारणा का शिकार होती है कि सांप्रदायिक चिंतन से अलग नीति का विचार हो ही नहीं सकता। इसी लिए जिन्हें सांप्रदायिकता से बचने की चिंता होती है वे, नैतिकता की शिक्षा को ही बंद करना अपनी सेक्यूलर मानसिकता का प्रमाण मानने लगते हैं। आवश्यकता यह है कि नैतिकता की शिक्षा तो हो, पर उसे लोगों के कल्याण के साथ जोड़ा जाए।

इतिहास की सही शिक्षा आवश्यक है। भारत में सांप्रदायिक दंगे भड़कने का पहला कारण ऐतिहासिक है। धर्म की परिभाषा का जो भेद है वह भी इस

का एक कारण है। क्योंकि जिस को हम हिन्दू धर्म कहते हैं उस में जो बुनियादी तत्व है वह यह है कि इस में इस बात का महत्त्व नहीं है कि आप क्या मानते हैं: बल्कि आप समाज में कैसे रहते हैं, इस का महत्त्व है। इस से संप्रदाय तो अलग अलग होंगे पर उन में तनाव या वैमनस्य पैदा नहीं होगा। लेकिन इस्लाम या मसीही धर्म में यह स्थिति नहीं रही। वहाँ महत्त्व का सवाल यह होता है कि आप क्या मानते हैं। इस लिए वहाँ संप्रदायों में वैमनस्य पैदा होने की संभावनाएं हमेशा ज्यादा रही हैं। आपस में भी और दूसरे धर्म के लोगों के प्रति भी। यह तो एक कारण है जो परंपरा में है, इस का ऐतिहासिक पहलू यह रहा है कि बहुत से धर्म परिवर्तन जो जबर्दस्ती हुए उन के कारण समाज में हिंसा के भाव बढ़ते गये और उन का जब तब विस्फोट होता रहा। दूसरा यह कि जात-पांत में जो जड़ता आयी उस से भी हिंसा बढ़ी। यह हिंसा सब जगह जमा है; नेता और गुंडे जब फायदा उठाना चाहते हैं, उठा लेते हैं।

राजनीति शिक्षा पर सावधानी

हम आज राजनीति के बोझ से दबे हुए हैं — या मानव जीवन के गले में राजनीति का तौक-सा बँधा हुआ है। किन्तु यह सामान्य राजनीति नहीं है। यह विशेष प्रकार की, सत्ता की राजनीति है। मानव सामाजिक और फिर राजनीतिक प्राणी भी है, पर उस की सामाजिक, राजनीतिक प्रकृति का मूल सत्ता की खोज या कामना नहीं है। पोलिटिकल एनिमल का अर्थ यह नहीं कि वह सत्ताकामी पशु है या हो।

मानव की मानवता मूलत: और सारत: उस की सर्जनधर्मिता में है और इस की पहली और मौलिक अभिव्यक्ति मूल्यों की सृष्टि में है। अत: उस का राजनीति दर्शन संपूर्ण परिवेश का दर्शन होना चाहिए। समग्र परिवेश के साथ जैसा संबंध हमें वांछित होता है, वही निर्धारित करता है कि हमारा सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक कर्म कैसा हो।

तो क्या हमारा जीवन इसलिए है कि हम अपने परिवेश को खा-पचा जाएं, आस-पास की समग्र प्रकृति को अपनी भूख में भस्म कर दें? दूसरे शब्दों में, सत्ता की चाह हमें क्या यह अधिकार देती है कि हम सब कुछ के साथ अंतत: मनुष्य को ही खा जाएं? या कि हमारी राजनीति की चिन्ता यह होनी चाहिए कि मानव के सतत अस्तितव के लिए, मानव की उपलब्धियों की रक्षा, संवर्द्धना

के लिए, उस की चेतना के विकास के लिए आवश्यक संतुलन की खोज और स्थापना करे?

अत: हमारी चिन्ता की कसौटी यह होनी चाहिए कि अतीत की भूलों का संशोधन और मार्जन कैसे किया जा सकता है, अपनी यात्रा की दिशा कैसे और किधर मोड़ी जानी चाहिए, उन्नति की अपनी अवधारणाओं में क्या परिवर्तन करना चाहिए, किस प्रकार के सुधार, संरक्षण, पुनर्निर्माण या पुनर्प्रतिष्ठा की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

इस के लिए संभव है कि ऐसे बिन्दुओं से आरंभ करना पड़े जो नगण्य और अकिंचन जान पड़ें। लेकिन समग्र परिवेश से मानव के संबंध की सही समझ से दीख जाएगा कि छोटे से बिन्दु से आरंभ कर के भी हम अपने सरोकार इतने दूर तक फैला सकते हैं जिस में देश से अंतरिक्ष तक समा सकते हैं।

हाल के युग में महत्त्वपूर्ण लगने वाली, किन्तु गलत राजनीति के दुनिया में अनगिन उदाहरण हैं। इन सब विभीषिकाओं का सबक क्या है? यही कि सत्ता की राजनीति, समग्र परिवेश को दरकिनार कर, राजनीति का मानवीय-करण करना अनिवार्य है। राजनीति के केंद्र में सत्ता नहीं, मानव को प्रतिष्ठित करना।

हमारा सार्वजनिक जीवन एक व्यापक दूषण से दूषित है, जिसे 'अंग्रेजी आभिजात्यवाद' कहा जा सकता है। अंग्रेजी के प्रति मोह और सत्ता की राजनीति के बीच घनिष्ठ संबंध है।

यदि इस स्थिति को बदलना है, राजनीति का मानवीकरण करना है, देश में व्यापक कल्याण की ओर ध्यान देना है, तो अंग्रेजी का मोह, अभिजात्य का अंधापन, छोड़ना होगा। साथ ही, भारतीय भाषाओं को अपना कर उन्हीं को अपने सार्वजनिक जीवन और राजनीति का आधार बनाना होगा। शासन के विकेंद्रीकरण का सिद्धांत इस के बिना पूरी तरह अव्यावहारिक रहेगा।

यह अंग्रेजी के बहिष्कार का आग्रह नहीं है। उसे उस के उचित आसन पर बिठाने की बात है। उस के साथ जुड़ी हुई (i) उच्चता, सत्ता का विशेषाधिकार; (ii) जन-गण से, भारतीयता से विलगाव; तथा (iii) हमारे साहित्य-संस्कृति से हमें लगातार दूर किए जाने की प्रक्रिया को रोकने की बात है। इसे रोके बिना कोई कल्याणकारी परिवर्तन असंभव है। नई पीढ़ी कथित अंग्रेजी शिक्षा के नाम पर किस हाल में जा रही है। उच्च शिक्षा किस कदर तकनीकी, व्यापार-उद्योग

की आवश्यकताओं की, वह भी जैसे-तैसे पूर्ति के सिवा कुछ नहीं रह गई है। पूरा देश इस के प्रति आत्म-प्रवंचना में है।

उच्च शिक्षा की विडंबनाएं

उच्च शिक्षा वह भर नहीं है जो एक उपाधि पा लेने के बाद समाप्त हो जाती है। न वह है जो एक न्यूनाधिक आरामदेह कुरसी पर बैठाने में सफल हो जाती है। न वह है जो वहाँ से आगे भौतिक तरक्कियों का मार्ग खोल देती है या पटरियों पर चिकनाई डाल देती है कि व्यक्ति निरायास और अप्रश्न भाव से आगे ही फिसलता जाए।

बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली या उस के योग्य बना देने वाली शिक्षा बुनियादी शिक्षा ही है, उच्च अथवा उच्चतर शिक्षा नहीं। जो इसी बात को हमारे सामने उजागर कर देती है और वहीं रुक जाना हमारे लिए असंभव बना देती है, उसी शिक्षा को हम 'उच्चतर' का दर्जा दे सकते हैं।

उच्च शिक्षा जीवन-मूल्यों के अनवरत शोध और परीक्षण की प्रेरणा और प्रवृत्ति है; एक व्रत है जिस का उद्यापन हम आयु पर्यंत करते रहते हैं।

क्या यह सही नहीं है कि आज की उच्च और उच्चतर शिक्षा मूल्यों के प्रति उदासीन होती जा रही है और उदासीनता के भाव को प्रोत्साहन नहीं तो प्रश्रय अवश्य देती है? और क्या जो शिक्षा इतनी सारी सुविधाएं पाने के बाद भी वह एक प्रश्न नहीं जगाती जो मैं कह सकता हूँ कि हमारे मानव होने की ही पहचान है - 'किसलिए?' 'किस लक्ष्य की ओर?' — क्या उस शिक्षा को हम उच्च शिक्षा कह सकते हैं ? — हम स्वयं अपने को चाहे जितने उच्च मानते हों — सामाजिक सफलता और राजनीतिक सत्ता ने हमें चाहे जितने 'उच्च' आसन पर बिठा दिया हो?

इन प्रश्नों के प्रति उदासीनता, यह पहले और आज के जमाने का ही अंतर नहीं है। वह आर्थिक और सामाजिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक, जातीय और सांस्कृतिक तथ्यों और प्रभावों का समूह है और उन के संबंध में देश-भर में फैली भ्रांतियों और पूर्वग्रह का परिणाम हैं।

उच्च शिक्षा का क्षेत्र और संस्थान लगातार ऐसे दबावों का शिकार रहा है जिन्होंने हमें यह भुलाने में पूरी सहायता की है कि उस उच्च शिक्षा का उद्देश्य

और लक्ष्य क्या होना चाहिए। इतना ही नहीं, उस ने निरंतर स्थूल और सूक्ष्म सभी तरह के उपायों से यह प्रयत्न किया है कि जो इस लक्ष्य को न भूलते हों, या उस के संबंध में औरों की जिज्ञासा और चेतना जगाते हों, उन्हें उपहास और उपेक्षा का निमित्त बनाते रहा जाए।

देश की बड़ी आबादी, निरक्षरता, विविध प्रकार के वैषम्य, आदि के प्रश्न उठाकर वे भ्रांतियाँ और पूर्वाग्रह क्रियाशील हो जाते हैं।

हमारे युग का दारुण, अनर्थकारी विरोधाभास है कि इस में जनहित के नाम पर, जनहित का तर्क देकर, वर्गीय, गुटीय स्वार्थों की पुष्टि की व्यवस्था की जाती है। और यह प्रवृत्ति किसी दूसरे क्षेत्र में उतनी क्रियाशील नहीं, जितनी शिक्षा क्षेत्र में। कहीं भी स्वार्थों को ऐसे आकर्षक नाम देना और आदर्शों के जामे में प्रस्तुत करना उतना आसान नहीं जितना शिक्षा के क्षेत्र में।

जैसे, भारत को 'संसार का सब से बड़ा लोकतंत्र' कहना मगर, शिक्षा का वही रूप और आदर्श सामने रखना जिस में उन का और उन के वर्ग का उच्चतर पद स्थाई बना रहे। उसी प्रकार, शिक्षा को 'The pursuit of excellence' कहना, लेकिन अंग्रेजी माध्यम और विदेशी पद्धति के सहारे वे जिस एक्सिलेंस का परस्यूट करते रह सके हैं, वह अधिसंख्य जनता तो क्या, अधिसंख्य शिक्षार्थी को भी नहीं मिल सकती। प्राय: उसी को मिल सकती है जो पहले से सुविधासंपन्न वर्ग से आता है और उन्हीं विदेशी लीकों पर चलकर उसे पा सकता है।

इस प्रकार, परस्यूट ऑफ एक्सिलेंस केवल pursuit of power and profit में बदल कर रह जाता है। जिस की ओर वास्तव में बढ़ना होता है। लोकतंत्र और समता का कथित आदर्श सामाजिक वैषम्य, वंचना को बनाए रखता है।

दूसरी ओर, कुछ लोग 'मानववादी' आदर्शों से आरंभ करते हैं और विदेशी एक्सिलेंस और देशी परंपरा के 'आत्मविकास' को हँसी में उड़ा देते हैं। विश्वविद्यालय ज्ञान के शोध के, मूल्यों की अवधारणा के, या चारित्रिक विकास के केन्द्र हों, स्थाई प्रतिमानों की प्रतिष्ठा करें और दैनंदिन बाहरी दबावों से अपने को मुक्त रखें, इस दृष्टि को वे खाम-ख्याली, ivory tower मनोवृत्ति कहते हैं।

सच्ची चिन्ताओं और वास्तविक आदर्शों को ध्वस्त करने के लिए वे 'सामाजिक प्रतिबद्धता' की महदघोष तोपें मैदान में लाते हैं।

मार्के की बात यह है कि 'सामाजिक प्रतिबद्धता' का नारा भी उसी वर्ग

ने और तभी बुलंद किया जब सुविधा और सत्ता के सारे उपकरणों पर उस ने अपनी पकड़ मजबूत कर ली — अर्थात जब 'सामाजिक प्रतिबद्धता' उसी के प्रभुत्व के प्रति प्रतिबद्धता बन गई।

इस प्रकार, दो प्रतिकूल दिशाओं और दृष्टियों से तर्कों के अस्त्र चलाए गए, जिन का शिकार एक ही हुआ है — उच्चतर शिक्षा संस्थान, जो उसी आहत अवस्था में आज भी बंदी है।

वास्तव में, विश्वविद्यालय का उत्तरदायित्व सामाजिक है। इस का अर्थ मात्र सरकार, उद्योग, रोजमर्रा आवश्यकता की पूर्ति का साधन बना देना अनुचित है। यह ठीक है कि इन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं हो सकती। किन्तु मात्र इसी को सामाजिक उत्तरदायित्व का पर्याय मान लेने का मतलब विश्वविद्यालय का काम कुशल कर्मचारी या नौकर तैयार करना होगा। क्या ऐसा है या हो सकता है?

वह मान लेना समाज के लिए आत्मघाती होगा। यह सच्चे विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देगा, क्योंकि जो आज बिकाऊ कौशल है, उसे देने में वह भूल जाएगा कि कल या परसों किसी और सर्वथा नए प्रकार के, अकल्पनीय कौशल की माँग हो सकती है — और उस प्रक्रिया में भी वह योगदान देने में असमर्थ हो जाएगा जिस के द्वारा नए कौशल पुराने को अर्थहीन कर देते हैं।

यदि आज के नियोक्ता, रोजगारदाता की जरूरें पूरा करना ही उच्च-शिक्षा का लक्ष्य रहेगा तो इस विवेक का विकास कहाँ, कौन करेगा कि कल की आवश्यकताएं क्या हो सकती हैं, और यह दिशा-निर्देश कहाँ से आएगा कि कल कौन सी नई आवश्यकताएं विकसित करनी चाहिए जिस से कि हम आगे बढ़ सकें?

जनमात्र के लिए शिक्षा का नारा केवल उच्च-शिक्षा के संदर्भ में उठाया जाता है। निचले स्तरों पर इस के विकास और उन्नति की बातें नहीं होती। यह वैसा ही है जैसे, किसी बहुमंजिली इमारत में ऊपरी मंजिलों पर सब के प्रवेश की दुहाई देना, जबकि पहली पाँच-सात मंजिलों की समाई कितनी और भार वहन की क्षमता क्या है, इस की पूरी उपेक्षा करना।

वस्तुत: इस विद्रूप से सामाजिक वैषम्य भी बढ़ा ही है। इस से शिक्षा के प्रतिमान भी दूषित हुए हैं। इस से भी शिक्षा का स्तर दिनो-दिन गिरा है।

आखिर कैसे, साक्षरता 6-7 प्रतिशत की दर से बढ़ी, किन्तु विश्वविद्यालय

से पीएच.डी. करके निकलने वालों की संख्या 7000 प्रतिशत![8] यह बढ़ते वैषम्य और शिक्षा की दरिद्रता, दोनों का प्रमाण है।

जो लोग 'विश्वविद्यालय सब के लिए' का नारा देकर उस की गुणवत्ता गिराते गये, वे जानते थे कि इस से उन का कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। बल्कि जिस विषमता और स्थिति ने उन्हें ऊँचा बिठा रखा है, वह और बढ़ने वाला है। विश्वविद्यालय सब के लिए खोलकर, दूसरे, तीसरे और अब तो निरर्थक दर्जे के उच्च-शिक्षितों की लंबी कतार लगवा कर, वे यह व्यवस्था करते हैं कि घटिया दर्जे की नौकरी के लिए रंगरूट भर्ती होते रहें। जबकि उच्च-स्तर पदों पर तो वे बने ही हुए हैं, और भविष्य के लिए अपने वर्ग और परिवार के सदस्यों को एक दूसरी ही कोटि की उच्च शिक्षा दिलाने के साधन उन के पास जुटते ही रहेंगे।

यह जब जानी हुई बातें हैं, फिर भी इन्हें दुहराना उपयुक्त है। क्योंकि इस से चुनौतियाँ समग्रता में दिखाई पड़ती हैं। संपूर्ण समस्या का रूप स्पष्टतर होता है।

जबकि उस की अनदेखी करने का प्रलोभन बड़ा प्रबल है। उसे देखने के पुरस्कार नगण्य हैं। बल्कि दंड भी मिल सकता है!

पर वह सब विडंबनाएं, समाज के सच्चे विकास की दृष्टि से आत्मघाती क्रिया-कलाप देख कर ही दो बातें स्पष्ट हो सकती हैं। एक, उच्च-शिक्षा में मूल्य और प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की अनिवार्यता। वहाँ विद्यार्थी की पात्रता की परीक्षा भी प्रतिमानों की स्थापना का एक चरण है। वह ivory tower वाली खामख्याली नहीं है। बल्कि मानव मात्र के प्रति शिक्षा के उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। दूसरे, सच्ची प्रतिबद्धता के लिए असल खूँटा यही है: समाज के प्रति अपने दायित्व को सुविधाभोगी या पदासीन वर्गों, गुटों के स्वार्थ भरे और तदर्थ दबावों से अलग करने का एक मात्र उपाय यही है।

व्यावहारिकता बनाम आदर्शवादिता

शिक्षा क्षेत्र ही ऐसा है जिस में आदर्शवादिता ही व्यावहारिक होती है।

पर जिसे आम तौर पर व्यावहारिक कहकर उपर्युक्त बातों की अनदेखी होती है, उसे भी आधार बना कर प्रश्न उठाएं, तो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक

8. यह वर्ष 1977 की स्थिति थी। आज का अनुपात और भी विचित्र हो सकता है।

क्या देता है, विद्यार्थी क्या चाहता है, शिक्षा के आयोजक क्या बनाते हैं और प्रयोक्ता या employer क्या माँगता है – इन सब को सामने रखने पर आश्चर्यजनक विसंगति सामने आती है।

मानो जो दिया जा रहा है, उस का जिसे दिया जा रहा है उस के प्रयोजनों से कोई संबंध नहीं है; और जिस के लिए वह उच्च-शिक्षित व्यक्ति उपलब्ध किया जा रहा है, उस की आवश्यकताओं से तो और भी कम संबंध है।

परिणामत: स्थिति यह है कि एक ओर शिक्षित बेरोजगारों की संख्या बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर ऐसे रिक्त स्थान बढ़ते जा रहे हैं जिन के लिए योग्य व्यक्ति नहीं मिलते। तीसरी ओर यह अवलोकन है कि जो कथित डिग्री-धारी आवेदन करते हैं वे तकनीकी संस्थानों के लिए भी अयोग्य, unemployable हैं। गैर-तकनीकी ग्रेजुएटों, स्नातकोत्तर या पीएच.डी. धारियों की तो अलग रही, जिन में अधिकांश अपने ही विषय में किसी बिन्दु पर कुछ सुसंगत लिख नहीं पाते। किसी भी भाषा में एक पाराग्राफ मौलिक बोल नहीं सकते।

उद्योगों का कहना है कि उन्हें साधारण, प्रशासनिक पदों के लिए भी सचमुच योग्य उम्मीदवार नहीं मिलते। यह प्रवृत्ति सर्वत्र बढ़ रही है कि विश्वविद्यालयों की डिग्री पर भरोसा न करके उद्योग अपने-अपने प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाएं।

विगत दशकों में विविध राजकीय आयोजना-आयोगों ने प्रयत्न किया कि विशिष्ट कौशलों की शिक्षा, माँग के विकास की गति को ध्यान में रखकर दी जाए। पर इस के बावजूद अधिसंख्य शिक्षितों की गति क्या हुई!

एक ओर, प्रतिभाओं का विदेशोन्मुख होना, क्योंकि यहाँ उन के उपयोग की सच्ची चिन्ता या व्यवस्था न हुई। दूसरी ओर, विश्वविद्यालयों की लगातार निगति का दृश्य। विश्वविद्यालय न तो pursuit of excellence का आदर्श निबाह सके — उस पर उन की आस्था ही डगमगा गई – न 'बिकाऊ कौशल' की जरूरतें पूरी कर सके।

इसलिए विश्वविद्यालय सब तरह से असमर्थ और परमुखापेक्षा हो गए। वे 'वेटिंग रूम' हो गए हैं, जहाँ काम-धाम तलाश करने वाले जैसे-तैसे समय काटते इंतजार करते हैं। वेटिंग रूम की सुविधा दे सकने में ही अपनी सफलता मान रहे हैं।

अधिकांश उच्च-शिक्षार्थी क्लर्क जैसी नौकरी करने के लिए भी लालायित

हैं। मगर अच्छे क्लर्क बनने के लिए भी गंभीरता से तैयार नहीं होते! ठीक-ठाक भाषा, सरकारी नियमों, आदि की ठीक-ठीक जानकारी रखने की प्रवृत्ति नहीं रखते।

न विश्वविद्यालय यह प्रश्न उठाते हैं कि ऐसे बी.ए., एम.ए., पीएच.डी. की संख्या बढ़ाकर क्या होगा? यह दोहरा, तिहरा राष्ट्रीय अपव्यय है। युवाओं के मूल्यवान वर्षों की नाहक बर्बादी भी, जिस दौरान वे अनिश्चित आशा में, अनिश्चित दिशा में, अनजान से बढ़ते जाते हैं। यदि विश्वविद्यालयों, और उस के पाठ्यक्रमों, विषयों के उच्च-अध्ययन के उद्देश्य स्पष्टता और विवेकनिष्ठा से निर्धारित किए जाएं, तो यह अपव्यय बहुत कम हो सकता है।

इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिए कि क्या उच्चतर शिक्षा के केन्दों का आयतन घटाकर, उन में प्रवेश को कड़ाई से सीमित कर, और इस प्रकार बचाए गए साधनों को अन्यत्र लगाकर सभी पक्षों की अधिक अच्छी सेवा नहीं होती?

यह भी नोट करना चाहिए कि देश भर में धनी दाताओं, संस्थानों द्वारा कॉलेज, विश्वविद्यालय के लिए उदार संपत्ति देने की प्रवृत्ति खत्म हो गई। क्योंकि उच्च-शिक्षा ने संपूर्णत: अपना वह स्वरूप खो दिया, जो कम से कम यूरोपीय आदर्श की नकल में आरंभ हुआ था। वह केवल रोजगार की तैयारी की संस्थाएं नहीं थीं, अपितु देश और समाज की सर्वोच्च सांस्कृतिक, बौद्धिक उपलब्धियों के संग्रह और विकास की आकांक्षा से प्रेरित थे। यही नहीं, गुणवत्ता गिरते जाने से औद्योगिक संस्थानों के कार्य में विश्वविद्यालयों की देन और उन के योगदान की अर्हता बहुत कम हो गई।

क्या शिक्षा के पाठ्य-क्रम, सत्र, परीक्षा के नियम, आदि ऐसे नहीं हो सकते कि डिगरी के साथ-साथ वस्तुस्थिति का भी कुछ ज्ञान और थोड़ा आत्मविश्वास भी विद्यार्थी को मिल जाए — और इस के साथ ही विश्वविद्यालय को भी वेटिंग रूम का धर्म निबाहने से छुटकारा मिल जाए?

उच्च-शिक्षकों के लिए विचारणीय बातें

यह क्यों मान लिया जाए कि शिक्षा एक बार जितनी हो गई सो हो गई — या कि विश्वविद्यालय एक बार छूटा सो छूटा? शिक्षा केवल जानकारियों का पुंज बढ़ा देना नहीं है। वह इन बढ़ती जानकारियों में सामञ्जस्य लाना भी

है। विभिन्न क्षेत्रों की जानकारियों की परस्पर प्रतिक्रिया से होने वाले परिणामों का शोध और उस के अनुसार दृष्टि का विकास भी है, वह उन से उठी समस्याओं का समाधान भी है और भविष्य में उठ सकने वाली समस्याओं का निराकरण भी है, उन की शक्तियों और संभावनाओं के उपयोग की दक्षता भी है और सही उपयोग का विवेक भी। वह कल्पना भी है, सर्जना भी, और मूल्यांकन भी। इन बढ़ती जानकारियों के अंबार के नीचे दब न जाने का संकल्प भी है। वह आस्था भी जिस से यह संकल्प केवल स्वार्थ-बुद्धि से आक्रांत एक अंध प्रेरणा न बनकर एक परमार्थ-रत निष्ठा का रूप ले सके।

और यह नहीं है कि ये सब बातें आदर्श के क्षेत्र की बातें हैं: वस्तुत: ये मनुष्य के मनुष्य के रूप में बने रहने की शर्तें हैं — और अस्तित्व-रक्षा से बढ़कर व्यावहारिक बात क्या होगी!

शिक्षा का एक लक्ष्य और आदर्श होना आवश्यक है। पर उस आदर्श में मूल्यों का एक उच्चावच क्रम भी होता है। सब मूल्य एक स्तर के नहीं होते, एक जैसे मूल्यावन नहीं होते। कुछ को वरीयता देनी होती है। वरीयता का यह विवेक दे और पा सकना भी शिक्षा का क्षेत्र है।

मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने, समग्र मानव समाज से या 'नारायण' से जुड़ने के मार्ग की सीढ़ियाँ भी हैं। और शायद यही हमारी शिक्षा की सब से बड़ी कमी रही है कि इन बीच की सीढ़ियों को न देखकर हम मानो एक दीवार के आगे खड़े रह गए हैं — आगे बढ़े ही नहीं।

हाल के काल में पश्चिमी पद्धति के लिबरल एजुकेशन ने पहले हमें एक उदार मानववादी संस्कार तो दिया था, पर एक जीर्ण, विघटन-ग्रस्त समाज के लिए यह मानववादी आदर्श एक 'दूर का ढोल' होता है। उस के सम्मोहन में हम उन विषम स्थितियों और अन्याय भरी अवस्थाओं को अनदेखा भी कर जाते हैं जो खाई जैसी हमारे रास्ते में हैं और जिन्हें पार किए बिना हम उस दूर के उत्सव में शामिल नहीं हो सकते।

हमें उदार मानववादी तो अनेक मिल गए, लेकिन ऐसे विरले मिले जिन्होंने यह प्रश्न उठाया हो, इस का उत्तर खोजा हो, कि हम अपने समाज को, अपने देश को किस दृष्टि से देखते हैं, उसे कैसा बनाना चाहते हैं?

जब तक हमारे सामने अपने ही समग्र रूप का कोई बिम्ब नहीं है — अतीत का नहीं, और केवल आत्मावसाद उत्पन्न करने वाले वर्तमान का भी नहीं, बल्कि

उस समग्र रूप का बिम्ब जो हमारी गहनतम आकांक्षा है, वह बिम्ब जिस से संपूर्णतया एकरूप और एकात्म हम होना चाहते हैं, तब तक हमारी शिक्षा का सही लक्ष्य भी हम नहीं जान सकते।

शिक्षा का लक्ष्य बदलते या स्पष्ट होते ही उस की वस्तु और उस का मूल्य बदल जाता है और समाज में उस की उपादेयता प्रकट हो जाती है।

यह सब बातें उच्च शिक्षकों को कोई उपदेश नहीं, बल्कि केवल एक व्यक्ति का प्रतिरूप उन के सामने रखना है जिसे शिक्षित बनाने का दायित्व उन का है।

वास्तव में उच्च शिक्षा की समस्या विश्वविद्यालयों की समस्या नहीं है — यानी उस की जड़ वहाँ नहीं है।

समस्या स्कूल से आरंभ होती है। क्योंकि जिस समग्र बिम्ब की बात कही गई वह वहीं से बनना शुरू होता है। अत: ऊपरी मंजिलों की बात करते हुए नींव की बात न भूलें।

फिर उलट कर भी रूपक को कहें तो शिक्षा भी एक उर्ध्व-मूल, अध:शाखा वृक्ष है। इस की जड़ों को सींचते हुए देखें कि इस की डालें ऊपर नहीं, नीचे फले-फूलेंगी और यह वृक्ष यहीं नीचे मीठा फल दे सका, तभी शिक्षकों का परिश्रम सार्थक होगा।

6.
उपसंहार

आज प्राय: संपूर्ण शिक्षा को रोजगारोन्मुख बना दिया जाना एक शोचनीय स्थिति है। आम लोगों और शिक्षित युवाओं में दिग्भ्रम, भावशून्यता या खासी चरित्रशून्यता कोई दुर्घटना या व्यतिक्रम नहीं है। निरी एकांगी और गुणविहीन शिक्षा का यह अनिवार्य परिणाम है। विशेष कर मानवता के सब से बहुमूल्य ज्ञान-ग्रंथों को समाज में और शिक्षा में उपेक्षित किया जाना इस का एक कारण है। जबकि मानव जीवन के कई बुनियादी प्रश्न किसी मनुष्य के रोजगार के संदर्भ से सदैव बाहर रहे हैं। जैसे, अच्छा जीवन क्या है? अच्छी समाज व्यवस्था, और राज्य व्यवस्था कौन सी है ? क्या ईश्वर का अस्तित्व है? इस संसार में मनुष्य का क्या काम है? क्या मानव संसार से परे भी कोई संसार या अस्तित्व है? किसी विषय में उचित और अनुचित का निर्णय करने का आधार क्या होना चाहिए? क्या कानून बनाना पर्याप्त है? लोक-हित, राज-हित और व्यक्ति-हित में क्या संबंध है? राज-धर्म का अर्थ एक है या समय के साथ यह बदलता रहा है? आदि कई गंभीर प्रश्न सदैव मानवता के साथ सदैव बने रहे हैं। उन्हीं से जूझते हुए संसार के मनीषियों ने विभिन्न युगों में, विभिन्न रूपों में अपनी अनमोल बातें कही हैं। उन्हीं को महान, क्लासिक, स्थाई महत्त्व की पुस्तकें कहा जाता है। उन महान, शास्त्रीय ग्रंथों को सामान्य शिक्षा से कभी विलग नहीं करना चाहिए। क्योंकि उन में इन्हीं बिन्दुओं पर सुचिंतित ज्ञान भरा पड़ा है। नए युग में नई स्थितियों का सामना करने के लिए भी उस से संपृक्त होना जरूरी है। इसलिए भी, क्योंकि दुनिया जितनी बदलती जाती है, उतनी ही वह वैसी की वैसी भी रहती है। जीवन-मृत्यु, स्वास्थ्य-रोग, आशा-निराशा, लोभ-स्वार्थपरता, उपकार-अपकार, सेवा-धोखा, लूट-दान, युद्ध-शान्ति, प्राकृतिक संपत्ति-विपत्ति,

संयोग-दुर्योग, धनाढ्यता-निर्धनता, अहंकार-विनम्रता, माया-मोह, क्षुद्रता-महानता, सज्जन-दुर्जन, अराजकता-सुव्यवस्था, आदि अनेक द्वंद्वात्मक परिघटनाएं हजारों साल से मानवता के साथ यथावत् हैं। नीति-अनीति, छल-प्रपंच, ऊँच-नीच, धर्म-अधर्म, प्रेम-वैराग्य तथा आशा-आकांक्षा आदि मनुष्य के साथ उसी तरह हैं जैसे जीवन-मरण। इसीलिए महान पुस्तकें, चाहे वह वेदव्यास लिखित हों, या प्लेटो अथवा टॉलस्टॉय की, कभी पुरानी नहीं पड़तीं। उन का अध्ययन करने में रुचि रखने वालों के लिए ही विश्वविद्यालय नामक स्थान होता है। उन्हीं से विश्वविद्यालय सार्थक होता है।

उपर्युक्त बातें इसलिए भी विचारणीय तथा प्रासंगिक हैं क्योंकि चमत्कारिक वैज्ञानिक उन्नति के साथ, कई क्षेत्रों में भारी अवनति भी हुई है। न केवल आध्यात्मिक, चारित्रिक, वरन भौतिक विषयों में भी। स्वच्छ जल, स्वच्छ नदियाँ, बाग-बगीचे अब मनुष्यों के जीवन से दूर होते जा रहे हैं। यह भौतिक समृद्धि में कमी, बल्कि दरिद्रता का परिचायक भी है। 'पानी की तरह पैसा बहाने' या 'मिट्टी के मोल' जैसे कई मुहावरे आज उलटने का समय आ गया है, क्योंकि स्वच्छ पानी और शुद्ध मिट्टी दुर्लभ होती जा रही है। यदि बुनियादी भौतिक वस्तुओं की यह स्थिति है, तब भावनात्मक, आध्यात्मिक, चारित्रिक आदि अ-भौतिक विषयों में मानवता की उन्नति या अवनति का हिसाब रोज समाचार-पत्रों से ही मिल जाता है।

वस्तुत: शिक्षा का लगभग पूर्ण व्यवसायीकारण भी सामाजिक अवनति का ही प्रमाण है। पहले रोजगार और शिक्षा दो अलग चीजें थीं। समय के साथ रोजगार का प्रशिक्षण शिक्षा का केंद्रीय उद्देश्य बन जाना एक बड़ी सामाजिक दुर्घटना हुई है। आदमी दैनिक रूप से रोजगार इसलिए करता है कि वह शेष समय सुखमय जीवन जी सके। मगर वह जीवन क्या है? यह ज्ञान उसे कथित शिक्षा में नहीं मिलता। एकांगी भौतिकवादी दृष्टि हर बिन्दु को भौतिक सुख-सुविधा के नजरिए से तौलती है। तभी आज स्वयं मनुष्य निरा उपभोक्ता, प्रचार का लक्ष्य भर बन गया है। उपभोक्ता से भी गिरकर वस्तुओं की खपत का उपकरण मात्र रह गया है। उस की अपनी संवेदना तक घटती जा रही है। वह अनाप-शनाप, अनावश्यक, अनर्गल, यहाँ तक कि हानिकारक वस्तुओं का भी उपभोक्ता बन रहा है। यह भौतिकतावादी दर्शन का, तदनुरूप साइंस-टेक्नॉलॉजी, वाणिज्य-व्यापार की शिक्षा मुख्य मानने वाले दर्शन का भी, दिवालियापन है कि धर्म-अधर्म की उपेक्षा से

बढ़ते-बढ़ते अंततः उस का पैमाना मनुष्य भी नहीं रह गया है। वस्तुओं का अंधाधुंध निर्माण, वित्तीय लाभ और बाजारी आंकड़े ही सर्वोपरि कसौटी हो गई है। स्वयं मनुष्यता किसी गिनती में नहीं है!

व्यवसायीकारण के साथ ही शिक्षा का राजनीतिकरण भी एक घोर अवनति का ही रूप है। सामाजिक और साहित्यिक विषयों की शिक्षा को तरह-तरह की राजनीतिक मतवादी दलीय भावना फैलाने का जाने-अनजाने औजार बना देना शिक्षा को विकृत करना ही है। फिर, हर चीज को आंकड़ों से देखने-दिखाने की प्रवृत्ति भी शिक्षा का बाजारीकरण करना ही है। मानो गुणवत्ता, चरित्र, भाव, आदि दोयम हैं। हमारे देश में इतने हाई-स्कूल पास, ग्रेजुएट या पीएच.डी. कहने का क्या अर्थ है, यदि ग्रेजुएट की वास्तविक मूल्यवत्ता आकलन से बाहर कर दी गई हो? मात्रा से लिप्त, गुण से निर्लिप्त दृष्टि अमानवीय, संस्कृति-विरोधी, भ्रामक और छल-पूर्ण है। लेकिन इसी से आज हमारे देश में पूरी शिक्षा का आकलन या मूल्यांकन हो रहा है।

विश्वविद्यालय को रोजगारोपयोगी गतिवधियों की तैयारी के केंद्र मात्र बनाने, या युवाओं के लिए कुछ वर्ष रोजगार के इंतजार में, या विविध शगल में बिताने का स्थान मानने की दृष्टि भी छोड़नी जरूरी है। अन्यथा वहाँ भाषा, साहित्य, कला, संस्कृति, तथा शुद्ध ज्ञान-चिंतन के लिए स्थान लुप्त होता जा रहा है। जब कि ठीक इन्हीं के अभाव में किसी देश की तात्कालिक और दूरगामी सोच-विचार करने, विवेकपूर्ण विश्लेषण कर सकने की क्षमता खो जाती है, या विकसित ही नहीं होती। समाज को उस की भी जरूरत है। अतः इन दो प्रकार के विषयों का महत्त्व समझना, तदनुरूप शिक्षा केंद्रों, स्थानों का नव-निर्माण या नव-गठन करना भी नितांत आवश्यक है। क्योंकि अपवादस्वरूप सचेत शिक्षक, माता-पिता, या बच्चे अथवा युवा स्वतंत्र रूप से चाह कर इस में कुछ खास नहीं कर सकते। आज यह मुख्यतः राजकीय महानुभावों, तथा बड़ी गैर-राजकीय संस्थाओं के विचार करने और व्यवस्था करने का विषय है।

जो रोजगार मनुष्य के लिए एक साधन है, वह साध्य में बदल गया है। इसीलिए शिक्षा का मूल तत्व ही शिक्षा से बाहर होता चला गया है। यही कारण है कि कई विकट समस्याओं के समक्ष हम निपट असहाय नजर आते हैं। उन छोटी बड़ी कई समस्याओं के सामने पूरा देश और समाज ही बेबस प्रतीत होता है। या तो उन की मौन अनदेखी करता, या उसे काल-गति पर छोड़ देता हुआ

चलता है। जो असहायता ही है। यह स्थिति कैसे बनी? इस के अन्य जो भी कारण हों, एक यह भी है कि शिक्षा और रोजगार का घाल-मेल कर दिया गया।

फिर, सामाजिक ज्ञान और प्राकृतिक ज्ञान (साइंस) में एक मौलिक भेद है। प्राकृतिक-प्रयोगिक विज्ञान पूरी दुनिया में एक से हो सकते हैं। किन्तु समाज ज्ञान हर देश में अपना ही हो सकता है। तभी वह सार्थक, रुचिकर, रचनात्मक होगा। ऐसा न होने के कारण ही यहाँ विजातीय नजरिए के समाज-ज्ञान (सोशल साइंस) का बोझ यहाँ के किशोरों, युवाओं को मौलिक विचारों के लिए प्रेरित नहीं कर पाता। इसलिए भी भारत में समाज ज्ञान विषयों में सच्ची प्रतिभाएं कम रुचि लेती हैं। जो लेती भी हैं, वे राजनीतिक मतवादिता की शिकार हो जाती हैं, जो मुख्यत: इन्हीं विषयों की शिक्षा-सामग्री में अंतर्निहित जोड़ दी गई हैं। इस बिन्दु पर, श्रीअरविन्द की वह चेतावनी सदैव चिंतनीय है कि किसी भी महान देश का बौद्धिक पतन सदैव तीन गुणों - विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता, तुलना व विभेद करने की क्षमता, तथा अभिव्यक्ति की क्षमता - के क्षरण से आरंभ होता है। अत: हमारे बच्चों, युवाओं में इन क्षमताओं के सतत विकास की आवश्यकता समझी जानी चाहिए। ये तीन क्षमताएं मुख्यत: महान, शास्त्रीय ग्रंथों तथा उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन से ही आती हैं। साइंस का अध्ययन इस में बहुत कम मददगार है। जबकि राजनीतिक मतवादिता तो उलटे विवेकपूर्ण विचार करने, तथा तुलना और विभेद करने की क्षमता ही हर लेती है।

भारत के लिए श्रीअरविन्द की उक्त चेतावनी सदा स्मरणीय है क्योंकि पिछले हजार वर्ष से दस्यु, बर्बर और धूर्त लोग, मुट्ठी भर संख्या में आकर भी, यहाँ उन से उन्नत सभ्यता-संस्कृति वाले भारी संख्या के लोगों पर अधिकार जमाते रहे हैं। ऐसी समस्याओं की विवेचना, तथा निकलने वाले निष्कर्षों का अध्ययन मात्र रोजगारी विषयों, व्यवसायी प्रशिक्षणों से बाहर है। यदि उन समस्याओं का सम्यक, सत्यनिष्ठ अध्ययन न किया गया, जैसा केवल नए-नए तकनीकी संस्थानों की चिन्ता करने — तथा सामाजिक ज्ञान विषयों में मुख्यत: मतवादी चिन्ताओं को लहराने — से भी लगता है, तो पुन: भारत का पराभव नहीं होगा, इस की गारंटी कौन कर सकता है? याद रहे, सोने की चिड़िया ही लूटी गई थी! यानी, उद्योग, तकनीक, धन-वैभव, आदि से परिपूर्ण भारत ही पराधीन हुआ था। किन के हाथों, कैसे, किन स्थितियों में, किन दुर्बलताओं के कारण? ऐसे प्रश्नों को केवल उत्कृष्ट और उन्मुक्त सामाजिक चिंतन, दर्शन एवं साहित्य ही समझता और

हल करता है। जिस पर कोई सभ्यता टिकती, सुरक्षित रहती है।

इस पृष्ठभूमि में भी उस चिंताजनक प्रवृत्ति पर विचार करना चाहिए, जो केवल रोजगार, धन कमाने की योग्यता, तथा तरह-तरह की मतवादी चिन्ताओं का प्रदर्शन और प्रसार करना ही 'शिक्षा' का उद्देश्य या उपयोग बना चुकी है। इस हद तक कि अब राष्ट्रीय नीति के शैक्षिक दस्तावेजों में शिक्षा को परिभाषित करना, तथा उस का उद्देश्य दर्ज करना भी आवश्यक नहीं समझा जाता! फलतः भारत के प्रतिभाशाली युवा मुख्यतः तकनीकी, मशीनी, प्रशासनिक कार्य करने वाले तथा उन संबंधित कार्यों की व्यवस्था के प्रबंधक तथा कर्मचारी आदि भर बन रहे हैं। उस क्रम में स्वभावतः उन में अधिकांश विदेश जाकर बस जाने के चलन में बह रहे हैं। इस प्रकार, चाहे उन्हें कितनी ही अच्छी आय होती हो, वे अपने ही देश, समाज के वर्तमान और भविष्य के बारे में सोचने-विचारने से दूर या असमर्थ होंगे। हो रहे हैं। साथ ही, उन में अधिकांश स्वयं अपने अस्तित्व, जीवन-मूल्य और भूमिका के बारे में कुछ ढंग का सोच-विचार नहीं करने में अक्षम या कम सक्षम होंगे।

परन्तु तनिक विचार करें कि यदि निर्जीव मशीनों, ऑफिस, कारोबार आदि चलाने के लिए व्यवस्थित प्रशिक्षण जरूरी है, तब जीवन्त लोगों, मत-वैभिन्य, रुचि-वैभिन्य से भरे समाज, तरह-तरह के हितों और इच्छाओं वाले नागरिकों से बने देश और स्वयं अपने जीवन को समुचित रूप चलाने के लिए कितने दुरूह प्रशिक्षण की आवश्यकता हो सकती है? दुनिया के विविध हिस्सों में राजनीतिक समस्याएं, झगड़े, युद्ध, आतंकवाद, आदि इस के उदाहरण हैं। न केवल साइंस और तकनीक, बल्कि धन, बुद्धि, सदिच्छा, कूटनीति आदि मिल कर भी युद्ध, आतंकवाद, नशाखोरी, पर्यावरण नाश, सामाजिक दुर्व्यवहार, अमानवीयता, घृणित अपराध, अनाचार, संगठित अन्याय, आदि का समाधान नहीं ढूँढ पाए हैं। इन समस्याओं के लिए भी सुयोग्य लोगों द्वारा व्यवस्थित चिंतन-मनन को प्रोत्साहन तथा व्यवस्था होनी चाहिए। इस के बिना, आत्म-रक्षा तक के लिए दूरगामी नीति-निर्माण कर सकना कठिन है। हमारे उच्च-शिक्षा संस्थानों, विश्वविद्यालयों, शोध-संस्थानों, आदि की समीक्षा इस दृष्टि से भी होनी चाहिए।

सामाजिक समस्याओं की समझ और समाधान के लिए बहुत गहरे प्रशिक्षण, बल्कि आत्म-प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यहाँ रॉबर्ट एम. हचिन्स, जो दो दशकों तक विश्व-प्रसिद्ध शिकागो विश्वविद्यालय के अध्यक्ष रहे थे, की टिप्पणी स्मरणीय

है, ''मैंने कई खगोलशास्त्रियों का नाम सुना है जो सोलह वर्ष की आयु से पहले ही अंतर्राष्ट्रीय विशिष्ट पत्रिकाओं में शोध-पत्र लिखते रहे हैं। किन्तु मैंने किसी ऐसे बच्चे के बारे में नहीं सुना जो सामाजिक संगठन और मनुष्य के भवितव्य के बारे में कोई उपयोगी बात कह सका हो।'' यह मानवीय प्रश्नों की अधिक जटिलता का ही संकेत है। किन्तु हमारे देश में ऐसे प्रश्न ही शिक्षा और शोध की दृष्टि से उपेक्षित छूट गए हैं। फलत: सच्चे अध्ययन और विमर्श से भी लगभग बाहर हैं।

शिक्षा की स्थिति पर विचार करते हुए दो कारक अलग से विचारणीय हैं। पहला, संपूर्ण भारतीय तंत्र में अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व; तथा दूसरे, राजनीतिक विचारधाराओं के हानिकारक दबदबे के परिणाम। विचार-विमर्श और नीति-निर्माण में अंग्रेजी वर्चस्व से कर्ता-वर्ग, नीतिकार और बौद्धिक दोनों ही, आम समाज से अनिवार्यत: कट गया है। भाषा के कारण ही वह अपनी ही सीमित, चाहे प्रभावशाली दुनिया में रहता है, और इने-गिने लोगों के बीच आपसी, संकीर्ण आदान-प्रदान से आगे नहीं देख पाता। इसी कारण, अब भारतीय भाषाओं में स्तरीय पुस्तकों तथा पाठ्य-सामग्री तक की चिंता नहीं की जाती। यह घोर अवनति है, क्योंकि विश्व के किसी सभ्य देश में यह स्थिति नहीं है — कि उस की अपनी ही भाषाओं में अच्छी पाठ्य-सामग्री, पुरानी और नई मूल्यवान पुस्तकें, साहित्य पत्र-पत्रिकाएं, शोध, चिंतन, दस्तावेज और सूचनाएं तक नदारद होती जा रही हों। स्वतंत्रता पूर्व भारत में तथा स्वतंत्रता के आरंभिक दशकों तक स्थिति बेहतर थी, यह भारत के लगभग सभी जानकार लोग मानते हैं। इसे विदेशी शासनों के मत्थे मढ़ना अनुचित है, जब भारत के स्वतंत्र हुए आठ दशक होने वाले हैं। इस बिन्दु पर परिशिष्ट में नीरद चन्द्र चौधरी के अवलोकन पर ध्यान देकर विचार करना चाहिए।

यह नोट करने लायक है कि इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में जो अनगिनत स्तरीय पुस्तकें 1960 के दशक तक हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं, अब उन में अधिकांश का लोप हो गया है। उन में कई विदेशी विद्वानों की विख्यात पुस्तकें भी थीं जिन का बड़े श्रम से हमारे तात्कालीन विद्वानों तथा अच्छे जानकारों ने अनुवाद किया था। अब वे पुस्तकें बाजार में तो क्या, कई तो पुस्तकालयों तक में उपलब्ध नहीं हैं। यह अत्यंत दु:खद परिदृश्य स्वैच्छिक रूप से शिक्षा-संस्कृति को अपने हाल पर छोड़ देने

का दुष्परिणाम है। कि उन पुस्तकों की मूल्यवत्ता समझने वाला कोई वर्ग भी देश में नहीं रह गया! अर्थात् हमारे देश के महत्त्वपूर्ण लोगों के लिए ज्ञान-चिंतन, शिक्षा, यहाँ तक कि जरूरी जानकारियों की दृष्टि से भी भारतीय भाषाओं में उपयोगी पुस्तकें होना, न होना नितांत महत्त्वहीन हो गया है। यह कैसी स्थिति है? क्या इसे प्रगति कहना संभव है?

इसी बीच, समाज ज्ञान और मानविकी विषय को राजनीति के औजार के रूप में भी इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। गुणवत्तापूर्ण, प्रमाणिक, सत्यनिष्ठ लेखन, तथा उन के प्रकाशन, प्रसार को प्रोत्साहित करने के बदले विशेष राजनीतिक, दलीय, मतवादी आग्रहों को पुष्ट, प्रचारित करने का काम कराने की प्रवृत्ति फैली है। इस ने दलीय-वैचारिक गिरोहबंदी को बेतहाशा फैला दिया है। फलतः सामाजिक विचार-विमर्श, सामाजिक-साहित्यिक अध्ययन, अध्यापन, लेखन और शोध में मूलभूत तथा वास्तविक प्रश्न किनारे कर संकीर्ण, मताग्रही विचार-बिन्दु ही महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। यह राष्ट्रीय स्तर पर हुआ, जिस का दुष्प्रभाव धीरे-धीरे आम शिक्षण-चिंतन पर भी पड़ा है।

पहले 'वैज्ञानिक विचारधारा', 'जनवाद', फिर 'पंथनिरपेक्षता', 'समावेशिता' तथा इस या उस वर्ग, समूह, आदि की विशेष चिन्ता, आदि की आड़ में विविध प्रकार के राजनीतिक मताग्रहों ने खुले, सच्चे विचार-विमर्श तथा ज्ञान-चिंतन के बदले अपनी-अपनी दलीय, और मतवादी पक्षधरताओं को केंद्रीय महत्त्व दिया। तदनुरूप विविध शक्तिशाली राजनीतिक गुटों ने निरंतर प्रयास, सक्रियता और समीकरणों के सहारे सामाजिक-मानविकी अध्ययन को इन मताग्रहों के पूर्णतः अधीन करने में भारी सफलता प्राप्त की। समय के साथ मताग्रहों की मात्रा बढ़ती गई: 'सबाल्टर्न', 'मल्टी-कल्चरिज्म', 'डाइवर्सिटी', 'जेंडर', 'मायनोरिटी', आदि दृष्टियों से हर चीज को देखने, व्याख्यायित करने की जिद फैलाई गई। जो किसी वैज्ञानिक, सत्यनिष्ठ अध्ययन के बदले वस्तुतः राजनीतिक गिरोहबंदियों को बल पहुँचाने तथा उसे उचित ठहराने के ही काम आती रही है। इस प्रकार, कई शैक्षिक विभागों, विषयों में वास्तविक ज्ञान के बदले ऐसे राजनीति-प्रेरित प्रचार ही सामाजिक-मानविकी शिक्षा की संज्ञा हासिल कर बैठे हैं।

मताग्रहों, राजनीतिक मतवादों का वर्चस्व शिक्षा के व्यवसायीकरण का ही दूसरा पहलू है। उद्योग-व्यवसाय के संचालक मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में

लेते हैं। उसी तरह, राजनीति से जुड़े प्रमुख लोग या संगठन, संस्थाएं, प्रचारक, आदि लोगों को मात्र वोटर या एक्टिविस्ट, प्रचारक समझते हैं, जिन का 'उपयोग' किसी दल, मतवाद या राजनीति को मजबूत करने में किया जाना है। यह केवल कम्युनिस्ट या इस्लामी देशों में ही नहीं हुआ, जहाँ किसी 'सर्वोच्च' मतवाद के सामने मनुष्य के स्वविवेक को दोयम समझा जाता है। भारत में भी सामाजिक-मानविकी विषयों में मतवादिता का आग्रह भारी मात्रा में जमता गया है। विद्यार्थियों के स्वविवेक और चेतना को जाग्रत, विकसित करने के बदले बने-बनाए राजनीतिक मत या निष्कर्ष भरने और उन्हें दुहराने वाला समर्थक, और हो सके तो एक्टिविस्ट, प्रचारक भर बनाने का प्रयास हुआ है।

यह सब कार्य कहने के लिए 'अच्छे उद्देश्यों' से किया गया, किन्तु विशेष मताग्रहों को विद्यार्थियों में भरने के लिए खुले-छिपे छल-प्रपंच, और दबाव से लेकर इतिहास तथा वर्तमान के तथ्यों में बनाव-छिपाव, काट-छाँट और निरे मिथ्याचार तक का उपयोग किया गया। अर्थात् किन्हीं मतवादों और दलीयता को पुष्ट करने के लिए सचाई को विकृत किया गया। यह सब शिक्षार्थियों, तथा संपूर्ण नई पीढ़ियों के सम्यक बौद्धिक विकास के लिए नितांत हानिकारक रहा है। जिसे किसी भी ठोस पैमाने पर परखा जा सकता है। सत्यनिष्ठा ही नहीं, दूरगामी देश-हित तथा नागरिकों के चरित्र-सामर्थ्य विकास की दृष्टि से भी यह अनुचित रहा। फलतः हमारे अधिसंख्य स्नातक और प्राध्यापक भी एजुकेटेड के बजाए मिसएजुकेटेड जान पड़ते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त कुछ बातें भी ध्यातव्य हैं। जिन्हें इस लेखक ने छात्र, शिक्षक, और सामाजिक अवलोकनकर्ता तथा लेखक के रूपों में अपने अनुभवों से महत्त्वपूर्ण पाया। जैसा, प्राक्कथन में आरंभिक बातों के उदाहरण भी दर्शाते हैं, आज शिक्षा से संबंधित किसी भी गंभीर चर्चा में उपर्युक्त बातें गंभीरता से विचारने योग्य हैं। अन्यथा उस के सामाजिक परिणाम समृद्ध, शक्तिशाली देशों में भी अपूर्वानुमेय हो सकते हैं। इसीलिए इस अध्ययन के उपसंहार में उपर्युक्त बिन्दुओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

समाकलन

स्वामी विवेकानन्द की बातों से स्पष्ट है कि उन्होंने भारतवासियों में सब से बड़ी कमी चारित्रिक दुर्बलता के रूप में देखी थी। तदनुरूप उन के सभी

आवाहन, सीख, और निर्देश उस कमी को दूर करने की दृष्टि से किए गये थे। शिक्षा क्षेत्र में भी उन का संपूर्ण ध्यान बच्चों को आत्मवान, निर्भीक और बलशाली बनाने पर था। शारीरिक और मानसिक दोनों रूप से बलवान। ताकि वे किसी प्रकार की परनिर्भरता की प्रवृत्ति से मुक्त होकर समाज में और संसार में गौरव से रहने योग्य बन सकें। इस के लिए शारीरिक और मानसिक सबलता को वे मनुष्य के सभी कार्यों का आधार मानते थे।

इसी आधार को पुष्ट और प्राप्त करने के लिए उन के सभी आवाहन थे। उन के विचार से इस आधार पर टिक कर न केवल सभी सुपात्र बच्चे और युवा अपनी-अपनी रुचि और क्षमताओं के साथ श्रेष्ठ मनुष्य बनेंगे, अपितु वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में अपना सर्वोत्तम योगदान देकर प्रसन्न रह सकेंगे। साथ ही, इसी आधार पर कोई समाज अपनी और मानवता की आवश्यकता की पूर्ति तथा समस्याओं का समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकेगा।

उसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के तत्व, आवश्यक प्रशिक्षण, व्यक्तित्व विकास के विभिन्न पक्ष, शिक्षक की पात्रता, सामाजिक उन्नति का मार्ग, तथा दैनिक व्यवहार की शिक्षाएं तक बताई हैं। इस के अतिरिक्त उन्होंने समाजिक समस्याओं और मानवता की स्थिति पर भी अपनी टिप्पणियाँ दी हैं। जिन का शैक्षिक महत्त्व इस बात में है कि वह व्यक्ति, देश, और संसार के बीच सामञ्जस्य और अभेद करते हुए दी गई हैं। अर्थात् उन का उपयोग एक सार्थक तथा व्यावहारिक कदम हो सकता है।

चूँकि स्वामी विवेकानन्द ने अपने देश के व्यापक अनुभवों के साथ-साथ अमेरिका और यूरोप के लोगों के साथ प्रत्यक्ष और लंबे विचार विमर्श का भी अनुभव प्राप्त किया था, उन की बातों का एक आनुभविक और व्यावहारिक संदर्भ बनता है।

उन के अवसान के लगभग सवा सौ वर्ष बाद आज उन के सभी विचारों को परखकर उन की सत्यता और व्यावहारिकता का मूल्यांकन करना अधिक सहज है। समय के अंतराल ने उन बातों की मूल्यवत्ता, उपयोगिता को वर्तमान अनुभवों से मिलाकर परखने की सुविधा दी है। जिस में उन बातों की महत्ता उसे कहने वाले से एक स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। अत: उन की उपयोगिता निर्धारित कर शिक्षा में, आत्म-शिक्षण तथा लोक-शिक्षण दोनों में, उन का समावेश करना ही चाहिए। औपचारिक शिक्षा तंत्र में उन्हें यथोचित जोड़ कर, तथा स्वतंत्र

रूप से अपनी या अपने बच्चों, युवाओं की शिक्षा में उन का उपयोग करके भी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने बाल्यकाल के प्रत्यक्ष अनुभवों से लेकर प्रकृति और मानव जगत का अत्यंत संवेदनशील अवलोकन, आकलन किया था। उन्होंने अपने अनुभव, अवलोकन, अध्ययन और उन पर आधारित चिंतन-मनन का विपुल भंडार लिख और बोल कर छोड़ा है। उसी संवेदना में उन्होंने यथाशक्ति, बल्कि अपनी शक्ति से बढ़कर बच्चों की सर्वांगीण शिक्षा के लिए आगे बढ़कर बहुतेरे ठोस काम भी किए। जिन में विद्यालय और संस्थाओं की स्थापना, संचालन, व्यवस्था, पाठ्य-पुस्तकों का लेखन तथा बच्चों को स्वयं पढ़ाना भी शामिल था। यह काम उन्होंने कम से कम तीन दशक तक लगातार किए, अर्थात जब तक शारीरिक सामर्थ्य ने उन का साथ दिया।

उन्नीसवीं सदी के अधिकांश भारतीय मनीषियों की तरह टैगोर ने भी आधुनिक भारतीय लोगों की शिक्षा में ब्रिटिश और यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान तथा व्यवहार की भूमिका को बहुत मूल्यवान पाया था। यहाँ तक कि हमारी वैयक्तिक और सामाजिक बुराइयों को दूर करने में भी आधुनिक यूरोपीय मानवीय मूल्यों और व्यवहार से सीखने की आवश्यकता समझी थी। एक अत्यंत संवेदनशील कवि और सहृदय मनुष्य के रूप में उन्होंने अपने और विदेशी समाज के सभी तत्वों को लंबे समय तक देखकर, अनुभव कर, तथा तुलना करके परखी हुई सचाई को देशवासियों के सामने रखा था।

उन की बारम्बार दुहराई गई चिन्ता यह थी कि किसी बच्चे को भी एक व्यक्तित्व समझना चाहिए। अत: उस में प्रकृति और जीवन के प्रति जो सहज, प्रत्यक्ष संबंध और लगाव होता है, उसे बचाए रखकर, बनाए रहने देकर ही शिक्षा की तमाम अन्य व्यवस्थाएं करनी चाहिए। इस में किसी नाम पर समझौता नहीं करना चाहिए। अत: बच्चों के शरीर, मन, और आत्मा में भेद करके नहीं, अपितु सामञ्जस्य रखते हुए, तीनों पक्षों के समुचित और साथ-साथ विकास की चिन्ता रहनी चाहिए। अन्यथा बच्चे के व्यक्तित्व के सहज विकास में बाधा और विकृति आती है। इस से बच्चों को हर हाल में बचाना चाहिए। जैसा उन्होंने पृथ्वी पर जल और थल का अनुपात दिखाते हुए आग्रह किया, कि तीन चौथाई जल की तरह मनुष्य को भी अपने प्राणिक भाग में प्राकृतिक रहना चाहिए, मानो 'बर्बर' की तरह सहज अनायास प्रकृति के अंग बने रहकर। तथा एक चौथाई 'सभ्य' रहना चाहिए, मानव समाज के भाग के रूप में।

इस के साथ-साथ, बच्चों की आरंभिक शिक्षा में महान और ललित साहित्य के प्रचुर अध्ययन को टैगोर ने अत्यंत मर्मभूत महत्त्व का माना है। इस की उपेक्षा या अनुपस्थिति में बच्चों का व्यक्तित्व आगे चल कर निश्चित रूपेण अधूरा, और विकृत, रुग्ण तक हो सकता है। क्योंकि प्राय: इस की भरपाई अन्य तरह से नहीं हो सकती।

यह ध्यान रखना चाहिए कि टैगोर की बातें केवल कल्पना या निजी आवलोकन भर नहीं थीं। एक महान कवि और चिंतक के रूप में उन्हें विश्व के अनेक भागों में लोगों के साथ विचार-विमर्श, तथा आदान-प्रदान का लंबा अनुभव भी होता रहा। जिस से उन की शिक्षा-संस्कृति संबंधी चिन्ताएं और धारणाएं विविध कसौटियों पर कसी जाकर निरंतर समृद्ध और परिष्कृत होती रहीं। अत: उन के विचारों, सुझावों, तथा आलोचनाओं की गंभीर मूल्यवत्ता बनती है। विशेषकर, आज उन के दैहिक अवसान के लगभग नौ दशक बीतने के बाद उन के विचारों और सुझावों की प्रासंगिकता को परखना सरल भी है। उन में सभी मूल्यवान तत्वों को शिक्षा को शामिल करके लाभ उठाया जा सकता है। क्योंकि वे ऐतिहासिक दृष्टि से एक समकालीन अन्वेषण भी हैं। जिन्हें सिद्धांत और व्यवहार की दीर्घ प्रक्रिया में पाया गया था। अतएव समाज और अदद जागरूक व्यक्ति, दोनों ही उन से लाभ उठा सकते हैं।

श्रीअरविन्द की संपूर्ण शिक्षा यूरोप में हुई थी। पाँच वर्ष की आयु में ही वे पढ़ने के लिए इंग्लैंड भेज दिए गये थे, और फिर कैंब्रिज विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त कर इक्कीस वर्ष की आयु में ही लौटे। उन्होंने संपूर्ण आधुनिक यूरोपीय ज्ञान को मूल भाषाओं में, मूल ग्रन्थों तथा यूरोपीय शिक्षकों से ही प्राप्त किया। दूसरी ओर, भारत आने के बाद उन्होंने भारतीय ज्ञान-परंपरा के महानतम ग्रंथों का अनुशीलन किया। तीसरे, शैक्षिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भी भूमिकाएं निभाईं। इंग्लैंड से लौटने के बाद उन्होंने बड़ौदा कॉलेज के प्रिंसिपल के रूप में शिक्षा का प्रत्यक्ष कार्य भी किया था। इस प्रकार, उन के अनुभव अवलोकन में यूरोपीय और भारतीय ज्ञान-परंपरा, तथा प्रत्यक्ष जन-जीवन, दोनों ही शामिल रहे।

साथ ही, वे एक मौलिक चिंतक, योगी तथा लेखक भी थे। इसलिए उन के शिक्षा संबंधी विचार भी सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान

हैं। वे भारत के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक एक राष्ट्रीय शिक्षा की रूपरेखा देने वालों में अग्रणी थे। इसलिए उन के दृष्टिकोण से शिक्षा के जरूरी तत्वों का एक विशिष्ट महत्त्व है। योग की दृष्टि से शरीर और मन की विशिष्ट संरचनाओं तथा उन की क्षमताओं पर ध्यान देते हुए शिक्षा संबंधी उन के सुझाव बड़े सूक्ष्म महत्त्व के हैं। बौद्धिक और चारित्रिक प्रशिक्षण पर उन के अवलोकन मौलिक और मूल्यवान हैं। उन्होंने तीन क्षमताओं या गुणों को किसी व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व और किसी समाज की संपूर्ण क्षमता का भी मूलाधार समझा था: विवेकशील विचार करने की क्षमता; तुलना और विभेद करने की क्षमता; तथा अभिव्यक्ति की क्षमता। गंभीरता से विचार करके देखें तो सूत्र रूप में यह सच्ची, वैज्ञानिक और व्यावहारिक शिक्षा का सटीक लक्ष्य बनाया जा सकता है। जिस से अन्य सभी लक्ष्य स्वत: प्राप्त होते रहेंगे।

शिक्षा संबंधी श्रीअरविन्द की अधिकांश बातें सारगर्भित रूप में ही मिलती हैं। उन्हें वैज्ञानिक कसौटियों पर परख कर अधिक सहजता से यह देखा जा सकता है। नैतिकता और धर्म संबंधी शिक्षा पर उन के विचार भी सार्वभौमिक दृष्टि से उपयोगी हैं। उन का निरूपण किसी खास मत या मतवाद के लिए नहीं किया गया है। बल्कि साइंस और टेक्नॉलॉजी की उपलब्धियों की तरह वे विचार संपूर्ण मानवता के लिए समान रूप से उपयोगी हैं।

निस्संदेह, श्रीअरविन्द के शिक्षा संबंधी विचारों की भी मूल्यवत्ता स्थाई बनी रहने वाली है। उन का उपयोग करना भी सरल है। केवल शैक्षिक विधियों में कुछ आवश्यक संशोधन, पाठ्य सामग्री की गुणवत्ता तथा शिक्षकों के चयन तथा प्रशिक्षण पर गंभीरता से ध्यान देकर यह किया जा सकता है। किन्तु उस के लिए शिक्षा क्षेत्र में चालू यांत्रिकता और व्यवसायिकता की दृष्टि पर पुनर्विचार करके उसे तिलांजलि देना आवश्यक है। कम से कम आरंभ के लिए उस दृष्टि को पीछे करना तो अपरिहार्य ही है।

स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' के विचार एक अलग दृष्टि की झलक देते हैं। उपर्युक्त तीनों मनीषियों के विचारों के पूरक, सहायक, और व्याख्या के रूप में भी। वे एक कवि, लेखक और संपादक होने के अतिरिक्त राजनीतिक क्रांतिकारी, सैनिक, और आजन्म यायावर भी रहे। उन की सत्यनिष्ठा तथा संवेदना आरंभ से अंत तक अडिग और जीवन्त बनी रही। उन्होंने एक अभिजात फक्कड़ जैसा,

किन्तु अत्यंत परिश्रमी, सावधान जीवन जिया। देश-विदेश की असंख्य यात्राओं ने उन्हें अपने विचारों, अनुभवों, मूल्यों को परखने और समृद्ध करने का अवसर भी दिया।

अज्ञेय ने, सर्वप्रथम, भाषा को शिक्षा की नींव माना है। यदि भाषा के शिक्षण के प्रति लापरवाही हो, अथवा उसे अपर्याप्त महत्त्व दिया जाए, तो बच्चे और उस के भविष्यत् व्यक्तित्व की हानि होगी। चाहे, किसी को इस सत्य का आभास हो अथवा नहीं। दूसरे, उन्होंने निर्भीकता की शिक्षा और मनुष्य के लिए इस गुण को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। इस पर बल उन के लेखन और व्याख्यानों में कई बार दुहराया मिलता है।

कवि के रूप में अज्ञेय की दृष्टि प्राचीनतम मनीषियों की दृष्टि के समान ही व्यापक और सत्यनिष्ठ रही थी। उसी दृष्टि के अंतर्गत उन्होंने अपने और विदेशी समाजों की स्थिति पर भी ध्यान रखा था। इसलिए, शिक्षा संबंधी उन के कुछ व्याख्यानों - जो प्राय: शिक्षा संस्थानों में युवा छात्रों तथा अध्यापकों के समक्ष ही दिए गये थे - और कुछ लेखों से जो विचार-बिन्दु प्राप्त होते हैं, वे मात्रा में कम होते हुए भी अत्यंत सारगर्भित हैं। उन में सब से केंद्रीय विचार मानव मूल्यों का है। जिन तत्वों से, जिन बातों में मानव अन्य जीव-जगत से भिन्न है, उन में जो सब से मूल्यवान तत्व है अज्ञेय सभी छात्रों और शिक्षकों को उस पर ध्यान देने के लिए कहते हैं। क्योंकि वही मानव होने का आधार और उस की उन्नति की भी एक मात्र दिशा है। उन मूल्यों का सचेत अवलंबन, संरक्षण, और परिवर्द्धन ही शिक्षा का सब से प्रमुख कर्तव्य है। अन्यथा जीवन-यापन और जीवन-रक्षा तो संपूर्ण पशुजगत में समान रूप से साझा कारोबार है। आवश्यक होते हुए भी वह मनुष्य और मनुष्यता का एकमात्र प्रधान कर्तव्य नहीं है। अत: संपूर्ण शिक्षा को इस नैतिक दायित्व से जोड़ कर रखना ही वास्तविक और व्यावहारिक नीति है।

जैसा परिशिष्ट में ब्रिटिश चिंतक जॉन रस्किन के विचारों से तुलना करके भी देखा जा सकता है, अज्ञेय भी छात्रों, माता-पिताओं, और शिक्षकों को 'अच्छे जीवन' के प्रति भ्रामक धारणाओं से उसी तरह बड़ी चिन्ता और आग्रह के साथ सावधान करते हैं। वस्तुत: बचपन से ही इस के प्रति एकदम उलटी, हानिकारक धारणाओं के कारण असंख्य प्रतिभावान बच्चे और युवा भी अपनी क्षमता का सही उपयोग नहीं कर पाते, अथवा भ्रमित होकर उसे व्यर्थ के लक्ष्यों में नष्ट कर

देते हैं। अज्ञेय के अनुसार, अच्छे जीवन की धारणा बिलकुल ठोक बजाकर बनानी चाहिए और तदनुरूप अपनी जीवनशैली और जीवन-दिशा निर्धारित करनी चाहिए। यह शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिए कि आरंभ से ही इस का विवेक बच्चों और युवाओं में विकसित होने दें सके, तथा उस में सहायता दें।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में इतिहास, सांप्रदायिकता, हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध, तथा राष्ट्रवाद पर टैगोर और अज्ञेय के विचार अत्यंत मूल्यवान हैं। परिशिष्ट में दिए गए जॉर्ज ऑरवेल के विचारों के साथ उन का महत्त्व और अधिक स्पष्ट होता है। टैगोर द्वारा राष्ट्रवाद की आलोचना को आज संपूर्ण रूप से समझने के लिए राष्ट्रवाद में पार्टीवाद, दलीयता को भी शामिल मानना चाहिए। लोकतांत्रिक देशों के संदर्भ में भी। जिस तरह राष्ट्रवाद में राष्ट्र की शक्ति बढ़ाने और दूसरे राष्ट्रों पर दबाव रख सकने या नीचा बताने की भावना बनती है। उसी प्रकार, दलीयता की भावना अपने भी देश में दूसरे दलों और उन के समर्थकों के प्रति कुछ वही भावना रखती है। जिसे टैगोर ने संज्ञा दी है: 'असत्य के पीर को नैवेद्य चढ़ाना'। ऐसा करने में, मानवीय मूल्य, सत्यनिष्ठा, न्याय-भावना, मानवीय गरिमा, सामाजिक हित, आदि जाने-अनजाने सदैव पीछे कर दिए जाते हैं। दलीय और उस से जुड़े हुए वैयक्तिक, स्थानीय, विविध संकीर्ण स्वार्थ ऊपर हो जाते हैं। दलगत भावना उसे एक ओट भी देती है, प्रोत्साहन भी देती है, और उन सब को सही ठहरा कर अपने अनुयायी की अंतश्चेतना को मिथ्या आश्वासन, यहाँ तक कि अहंकार भी प्रदान कर देती है। अत: दलीयता की निष्ठा जाने और अनजाने, दोनों रूपों में मानवीय मूल्यों और समाज-हित को भी दोयम स्थान पर ला रखती है। यह न केवल कई देशों में उग्र मतवादी दलों के तानाशाही शासनों में, अपितु अनेक लोकतांत्रिक देशों में भी लंबे समय से देखा गया यथार्थ है। इसलिए, राष्ट्रवाद संबंधी टैगोर की शिक्षा की निहितार्थ चिन्ताओं पर ध्यान देना चाहिए, जो एक गंभीर अवलोकन है।

यह संयोग नहीं कि हमारी औपचारिक शिक्षा में, स्कूली से लेकर विश्वविद्यालयों तक, उन विषयों की पाठ्यचर्या में ऐसे विचार लगभग लुप्त मिलते हैं। किन्तु ये विचार ही सत्यनिष्ठ और इसलिए अधिक व्यावहारिक भी हैं। क्योंकि इन में किसी मतवादिता या संकीर्णता का दोष नहीं है। दोनों मनीषियों ने अपने-अपने स्वतंत्र और विवेकशील अवलोकन से इन्हें पाया, और हमें प्रदान किया है। तुलना के लिए जॉर्ज ऑरवेल का अवलोकन भी सदैव प्रासंगिक है।

लगभग सौ वर्ष पहले के ब्रिटिश अनुभवों से जुड़े होने के कारण उस की एक अंतर्राष्ट्रीय महत्ता भी है। जिस से राष्ट्रवाद की भूमिका और इतिहास के शिक्षण संबंधी आवश्यक सावधानियों की सीख मिलती है।

कुल मिलाकर, चारों मनीषियों की शिक्षा संबंधी सभी बातों का आकलन करने पर उन की बातें लगभग कहीं भी अंतर्विरोधी नहीं प्रतीत होतीं। जबकि अवलोकनों और विचार-बिन्दुओं के रूप में वे दर्जनों की संख्या में हैं। अपितु कई बिन्दुओं पर वे एक-दूसरे की पुष्टि और व्याख्या करती प्रतीत होती हैं। जैसे, धर्म की शिक्षा के बारे में स्वामी विवेकानन्द और टैगोर के विचार। अथवा, इतिहास की शिक्षा के प्रति श्रीअरविन्द और अज्ञेय के विचार, आदि। यह कोई अनोखी बात नहीं कि ध्यान से विचार करने पर उन मनीषियों की लगभग सभी बातें एक-दूसरे की पूरक, विस्तार, और व्याख्या ही हैं। यह उन बातों, सीखों की वैज्ञानिक सच्चाई का ही अप्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि वे सभी बातें उन मनीषियों ने अपने-अपने स्वतंत्र चितन, अवलोकन, तथा अनुभवों से पाई थीं। साथ ही, कालान्तर या वर्तमान समय के हमारे अनुभवों ने उन्हें कहीं दुर्बल या अप्रासंगिक नहीं ठहराया है।

दूसरी ओर, देश के शिक्षा परिदृश्य और स्वतंत्र भारत में शैक्षिक विकास के सरसरी अवलोकन से भी दिख सकता है कि बच्चों और युवाओं की शिक्षा के लिए जिन आवश्यकताओं, अनुशंसाओं और चिन्ताओं को चारों मनीषियों ने व्यक्त किया था, वे सभी उपेक्षित रहीं। इस अध्ययन के परिशिष्ट में शामिल विचारों को भी जोड़ कर आकलन करने पर यह स्थिति और भी स्पष्ट दिखती है।

अत: यह भी विचारणीय है कि क्या उन मनीषियों की वे बातें ही अनुपयुक्त थीं, अथवा स्वतंत्र भारत में शिक्षा व्यवस्था बिन पतवार की नाव की तरह जब जैसी हवा उसे जैसे चलाए वैसे चल रही है? यह प्रश्न इसलिए भी समीचीन है क्योंकि स्वतंत्र भारत में बने क्रमश: सभी शिक्षा दस्तावेज संकेत करते हैं कि उन आवश्यकताओं, अनुशंसाओं को कभी अनुपयुक्त नहीं बताया गया। बल्कि अनेक आरंभिक दस्तावेज उन बातों में ही कई को दर्ज किए मिलते हैं। जैसे, 1948 में शिक्षा संबंधी डॉ. राधाकृष्णन आयोग की अनुशंसाएं। जिन में धर्म की शिक्षा, और विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को एक प्रमुख स्थान दिया

गया था। अथवा, शिक्षा संस्थानों को राजनीतिक, दलीय गतिविधियों से नितांत मुक्त रखने की अनुशंसा की गई थी। साथ ही, सांस्कृतिक और खेल-कूद गतिविधियों को महत्त्व दिया गया था। किन्तु बाद के वर्षों, दशकों में वे बातें अनायास लुप्त होती गईं। बल्कि उन से ठीक उलटी बातें और गतिविधियाँ शिक्षा सामग्री में तथा शिक्षा संस्थाओं में स्थापित होती गईं। जब कि उस शिक्षा आयोग के दस्तावेज के बाद बाद के किसी शिक्षा-दस्तावेज में उन अनुशंसाओं की समीक्षा कर उन्हें खारिज किया हुआ नहीं मिलता। इस से यही प्रतीत होता है कि हमारे सुचिंतित मनीषियों की बातें ही नहीं, अपितु स्वयं आधिकारिक शिक्षा आयोगों, दस्तावेजों के प्रति भी कोई गंभीरता नहीं रही है। अर्थात्, स्वतंत्र भारत की शिक्षा व्यवस्था अनायास बनती, बदलती गई है। उस में किसी सुचिंतित उद्देश्य और तदनुरूप व्यवस्था का अभाव रहा है।

बहरहाल, उक्त चारों मनीषियों में अंतिम के भी दैहिक अवसान के लगभग चार दशक बाद आज यह पुनरावलोकन हमारे अपने अवलोकनों, अनुभवों के आलोक में भी द्रष्टव्य, विचारणीय है। उन में जो भी बातें हमें अपने अनुभव और विवेक से सत्य प्रतीत हों, उन्हें यथासंभव, यथाशक्ति और यथाशीघ्र अपनाना चाहिए। यह शैक्षिक संस्थाएं, शैक्षिक विभाग, शिक्षक, माता-पिता, अदद छात्र, स्वतंत्र व्यक्ति भी कुछ न कुछ मात्रा में कर और करवा सकते हैं। उन में बहुत सी सीखों को अपनाने, प्रयोग में लाने में न विशेष अतिरिक्त समय, न धन अपेक्षित है। केवल ध्यान देने, मनन करने, प्राथमिकताएं सुधारने और समायोजित करने, तथा प्रयोग कर उन की उपयोगिता परखने भर की आवश्यकता है। इस अर्थ में, सुचिंतित और सामर्थ्यवान लोगों के लिए इस अध्ययन में संग्रहीत आकलन एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तैयार-संदर्भ तथा मार्गदर्शक के रूप में भी उपयोगी हो सकते हैं।

परिशिष्ट के सभी अंश स्वतंत्र रूप से भी विचारणीय हैं। वह इस अध्ययन के मनीषियों के अवलोकनों से भी कहीं न कहीं मेल खाते हैं। उन्हें पढ़-गुन कर मुख्य अध्यायों की बातों का संदर्भ और आशय अधिक खुलता दीख सकता है। साथ ही, दोनों का एक तुलनात्मक मूल्यांकन भी हो जाता है। क्योंकि परिशिष्ट में सम्मिलित मनीषी भी अत्यंत विशिष्ट रहे हैं, और दुनिया में उन के विचारों की महत्ता लंबे समय से स्थापित है। उन के विचारों का मूल्य स्थाई और सार्वभौमिक है, अत: शिक्षा की दृष्टि से उन्हें इस अध्ययन में एक पूरक सामग्री और संदर्भ

के रूप में शामिल किया गया है। कुल मिलाकर यह सुचिंतित तथा सदा सामयिक सीखों का एक शास्त्रीय, व्यावहारिक आकलन है।

जैसा महाकवि तुलसीदास ने कहा था: 'शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ'। इस अध्ययन में स्वामी विवेकानन्द, कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि श्रीअरविन्द, तथा कवि अज्ञेय की शिक्षा संबंधी वैसी ही अत्यंत सुचिंतित बातों, तथा परिशिष्ट में सात अन्य मनीषियों की भी संबंधित कुछ शास्त्रीय बातों का संकलन-आकलन प्रस्तुत है। ताकि सुधी पाठक और चाहें तो शिक्षाकर्मी, शिक्षा नीतिकार, और शिक्षा संचालक भी उस से लाभ उठा सकें।

जिन संस्थाओं, विभागों, और विशिष्ट व्यक्तियों की सामर्थ्य हो वे इन शैक्षिक बिन्दुओं को विद्यालयों तथा शिक्षा संस्थानों में अपनाने के लिए व्यावहारिक कदम उठाने व योजनाएं बनाने के लिए सुयोग्य समितियाँ भी बना सकते हैं। ताकि विविध बिन्दुओं पर प्रभावी क्रियान्वयन के उपाय और कार्य-योजनाएं तय कर दे सकें। जिन्हें स्वैच्छिक रूप से अपनाने के लिए कहा जा सकता है। यह अपेक्षित और संभव है। जैसा इस अध्ययन में आद्योपांत झलक सकता है, इस में आकलित सभी बातें केवल अकादमिक मूल्य की नहीं, अपितु व्यावहारिक, जीवन्त चिन्ताओं से पैदा हुई थीं। यदि उन की मूल्यवत्ता वैज्ञानिक और ऐतिहासिक कसौटियों पर खरी उतरती है, तो उन्हें यथोचित उपयोग में लाना ही युक्तिसंगत है।

परिशिष्ट - 1

प्लेटो

सोक्रेटीस - और हमारे भावी नायकों की शिक्षा किस प्रकार की होगी? क्या हम पारंपरिक शिक्षा से बेहतर कुछ ढूँढ सकते हैं? - जिस के दो भाग हैं, शरीर के लिए खेल-कूद और व्यायाम (जिम्नास्टिक्स), तथा आत्मा के लिए संगीत।

एडिमेन्टस - बिलकुल सही।

सोक्रेटीस - हम संगीत से आरंभ करेंगे, और बाद में व्यायाम और खेल-कूद तक जाएंगे?

एडिमेन्टस - एकदम, पूरी तरह से।

सोक्रेटीस - और जब तुम संगीत कहते हो, तो उस में तुम साहित्य को जोड़ते हो या नहीं?

एडिमेन्टस - बिलकुल जोड़ता हूँ।

सोक्रेटीस - और साहित्य सच्चा या झूठा भी होता है?

एडिमेन्टस - हाँ, होता है।

सोक्रेटीस - और बच्चों को दोनों तरह के साहित्य में प्रशिक्षित करना चाहिए, और शुरुआत हम झूठे साहित्य से करेंगे?

एडिमेन्टस - मैं आप का आशय नहीं समझ पाया।

सोक्रेटीस - देखो, हम बच्चों को ऐसी कथाएं सुनाने से आरंभ करेंगे जो सत्य से एकदम रहित तो नहीं हैं किन्तु मुख्यत: काल्पनिक हैं। और

यह कहानियाँ उन्हें तब सुनाई जाएंगी जब तक उन की आयु व्यायाम और खेल-कूद सीखने की नहीं हुई है।

एडिमेन्टस – बिलकुल सही।

सोक्रेटीस – यही मेरा आशय था जब मैंने कहा कि हम खेल-कूद और व्यायाम से पहले संगीत सिखाएंगे।

एडिमेन्टस – बिलकुल ठीक।

सोक्रेटीस – तुम यह भी जानते ही हो कि किसी कार्य का आरंभ सब से महत्त्वपूर्ण भाग होता है, विशेषकर किसी बच्चे और नाजुक चीज के मामले में। क्योंकि वही समय होता है जब चरित्र बनने लगता है और वह अपेक्षित प्रभाव फौरन ग्रहण करता है।

एडिमेन्टस – बिलकुल सही।

सोक्रेटीस – तो क्या हम लापरवाही से बच्चों को चलताऊ कहानियाँ सुनने छोड़ देंगे जो ऐसे ही चलताऊ लोगों ने गढ़ी होंगी और उन के मस्तिष्क को ऐसे विचार ग्रहण करने देंगे जिस के प्राय: ठीक विपरीत विचार हम उन में देखना चाहते हैं जब वे वयस्क बनें?

एडिमेन्टस – नहीं, हम ऐसा नहीं होने दे सकते।

– *रिपब्लिक,* बुक 2 (ई.पू. 375)

परिशिष्ट–2

हेनरी वड्सवर्थ लाँगफेलो (1807–1882)

जीवन का प्रार्थना–गीत (1838)	***A psalm of life*** (1838)
मत सुनाओ मुझे, दुखी स्वर में, कि जीवन एक खाली सपना है! क्योंकि मृत है वह आत्मा जो सोती रहती है, और सब कुछ वही नहीं जो दिखता है।	Tell me not, in mournful numbers, Life is but an empty dream! For the soul is dead that slumbers, And things are not what they seem.
जीवन सत्य है! जीवन महत्वपूर्ण है! और कब्र इस का लक्ष्य नहीं है; तुम धूल हो, और अंततः धूल में मिल जाओगे, यह आत्मा के लिए नहीं कहा गया था।	Life is real! Life is earnest! And the grave is not its goal; Dust thou art, to dust returnest, Was not spoken of the soul.
न सुख, और न दुख, हमारी नियति या मार्ग है; बल्कि कर्म करना, ताकि हरेक कल हमें आज से आगे देखे।	Not enjoyment, and not sorrow, Is our destined end or way; But to act, that each to-morrow Find us farther than to-day.
कला लम्बी है, और समय उड़ता जाता है, और हमारा हृदय, यद्यपि स्थूल और वीर है, फिर भी, ढँके ड्रम की तरह, धड़कता जाता है शोक परेड में कब्र की ओर।	Art is long, and Time is fleeting, And our hearts, though stout and brave, Still, like muffled drums, are beating Funeral marches to the grave.

इस जगत के वृहत रणक्षेत्र में, जीवन के शिविर में, मूढ़, हाँके जाते जानवरों जैसे न बनो! एक नायक बनो इस लड़ाई में!	In the world's broad field of battle, In the bivouac of Life, Be not like dumb, driven cattle! Be a hero in the strife!
भविष्य का भरोसा न करो, चाहे कितना सुखद! अतीत को अपना कचरा दबाने छोड़ दो! कर्म करो, – जीवित वर्तमान में कर्म करो! अंतर में हृदय, और ऊपर ईश्वर!	Trust no Future, howe'er pleasant! Let the dead Past bury its dead! Act,— act in the living Present! Heart within, and God o'erhead!
महापुरुषों का जीवन हमें स्मरण दिलाता है हम अपना जीवन उत्कृष्ट बना सकते हैं, और, विदा लेते, अपने पीछे छोड़ सकते हैं पगचिन्ह काल की रेती पर;	Lives of great men all remind us We can make our lives sublime, And, departing, leave behind us Footprints on the sands of time;
पगचिन्ह जिसे, संभवत: कोई और, गंभीर जीवन समुद्र में तिरता हुआ, कोई निराश और विक्षत बंधु, देख कर, फिर अपना मन जुड़ा ले।	Footprints, that perhaps another, Sailing o'er life's solemn main, A forlorn and shipwrecked brother, Seeing, shall take heart again.
तो, आओ, हम उठ खड़े हों और लग जाएं, किसी भी परिणाम के लिए तैयार होकर; उपलब्धि हासिल करते भी, लगे हुए भी, सीखें परिश्रम करना और प्रतीक्षा करना।	Let us, then, be up and doing, With a heart for any fate; Still achieving, still pursuing, Learn to labor and to wait.

परिशिष्ट-3

जॉन रस्किन

I

हमारा बच्चा जीवन में उन्नति करे - हम घुटनों पर टिक कर यही प्रार्थना करते हैं - बस कुल यही प्रार्थना करते हैं। लगता है माता-पिता को यह कभी ध्यान नहीं आता कि ऐसी शिक्षा भी हो सकती है जिसे पाना स्वयं जीवन में उन्नति है - कि उसे छोड़ कर कोई भी अन्य संभवत: मृत्यु की ओर उन्नति हो। और यह भी कि वैसी सारभूत शिक्षा उस से अधिक सरलता से पाई, या दी जा सकती है, जितना वे कल्पना करते हैं, यदि वे इस के बारे में सही दिशा में प्रयास करें। जब कि यह किसी मूल्य पर, और किसी सुविधा से नहीं मिल सकती, यदि वे गलत दिशा में इस के लिए प्रयास करेंगे। ...

व्यवहार में किसी के 'जीवन में उन्नति करने' का अर्थ यही लिया जाता है कि वह जनजीवन में विशिष्ट दिखे, ऐसा पद प्राप्त करे जिसे सभी लोग सम्मानजनक या महत्त्वपूर्ण समझते हों। इस से हम सामान्यत: केवल धन कमाना नहीं समझते, बल्कि यह भी कि इस की चर्चा हो। केवल कोई लक्ष्य प्राप्त करना नहीं, बल्कि सब को यह दिखना भी कि यह प्राप्त किया। संक्षेप में, यश पाने की हमारी प्यास। यह प्यास जो सज्जन लोगों की अंतिम कमजोरी होती है, दुर्बलों की पहली कमजोरी है। ...

यही कुल मिलाकर, 'जीवन में उन्नति करने' का मुख्य अर्थ समझा जाता है। इसी की दूसरी व्युत्पत्ति है 'अच्छे समाज में जगह बनाना'। हम यह इसलिए नहीं चाहते कि हम उस समाज में रहें बल्कि हमें उस समाज में देखा जाए। उस की अच्छे होने की हमारी समझ अच्छाई से अधिक उस की दिखने वाली विशिष्टता से प्रेरित है। ...

हम सभी चाहते हैं कि हमारे मित्र सच्चे हों, और सहयोगी बुद्धिमान हों। ... चलिए, माना कि हम अपने लिए अच्छे मित्र चुनना चाहते हैं और हमारे पास इस की समझ भी है। पर हम में कितने हैं जिन के पास इस की क्षमता है! या, कम से कम, अधिकांशत: चुनने के लिए कितना सीमित विकल्प रहता है! हमारे लगभग सभी संबंध संयोग या जरूरत पर निर्भर करते हैं। यह अत्यंत सीमित दायरा होता है। ... कभी-कभार, सौभाग्य से, हमें किसी महान कवि के क्षण भर के लिए दर्शन हो जाते हैं, या उन का स्वर सुनने को मिल जाता है, या किसी वैज्ञानिक के सामने कोई प्रश्न पूछने का अवसर मिल जाता है और हो सकता है कि उस का सौजन्यता से उत्तर भी मिल जाए। कभी किसी कैबिनेट मंत्री से जबरन दस मिनट बात का मौका ले लें, जिस में वह भारी उपेक्षा के साथ ही मुझ से कुछ कहे, वह भी नकली बात। या, कभी जीवन में एक या दो बार किसी राजकुमारी पर फूल बरसाने का अवसर मिल जाए, या कभी किसी रानी की एक मुस्कुराती दृष्टि मुझ पर पड़ जाए। और फिर भी ऐसे क्षणिक अवसरों की हम आस करते रहते हैं। इन सब से कुछ ही अधिक पाने के लिए बरसों अपना समय, कामनाएं और प्रयास लगाते रहते हैं।

जबकि इसी बीच एक ऐसा समाज हमारे लिए सदैव खुला हुआ है, जो हम से तब तक बात करता रहेगा जब तक हम चाहें, चाहे हमारा स्थान और पद कुछ भी क्यों न हो - वह हम से अपने सर्वोत्तम शब्दों में बात करेगा, और वह भी पूरी तरह अपने हृदय की असली बातें। और यह समाज जो इतना बड़ा है और भद्र है, वह दिन भर हमारी प्रतीक्षा में बैठा इंतजार करते रखा जा सकता है - राजाओं और महापुरुषों का समाज, धैर्यपूर्वक बैठा है, हमें सुनने के लिए नहीं, हम से अपनी कहने के लिए, कि हम कृपा पूर्वक उन की बात सुनें! वह समाज बैठा है हमारे छोटे से कक्ष में पुस्तकों की पंक्ति में - हम उसे कोई महत्त्व नहीं देते - संभवत: कभी सुनते भी नहीं जो वे हमसे कहते, दिन भर!

कोई कह सकता है, या मन में सोच सकता है कि उस समाज की उपेक्षा हम इसलिए करते हैं क्योंकि पुस्तकों वाले महापुरूषों के जीवंत चेहरे नहीं देख सकते; और जिन के पीछे हम भागने के लिए तैयार रहते हैं, चाहे वे गये-गुजरे, पर मशहूर हस्ती हों, जो हमें पसंद भी नहीं करते, किंतु उन का मुख देख सकते हैं। और उन्हें देखने, न कि उन की बातें सुनने की हमें लालसा रहती है। पर ऐसा नहीं है। कल्पना कीजिए कि आज की जीवित हस्तियाँ अपने आफिस में

एक भारी पर्दे की ओट में रह कर आप से बात करने तैयार हों, तो क्या आप उन्हें खुशी-खुशी सुनने नहीं चले जाएंगे? और जब वह ओट उस से भी कम हो, चार तह के बदले केवल दो तह, और आप उन मात्र उन दो दफ्तियों के पीछे हों जो पुस्तक की जिल्द बनाती है, और दिन भर उन्हें सुन सकते हों, कोई चलताऊ बातें नहीं, बल्कि सब से विवेकवान लोगों की सुविचारित बातें - तो ऐसा समाज, उत्कृष्ट लोगों की सम्मानित परिषद्, आप नापसंद करते हैं! ...

आप को अपना समाज चुनना है, जब कि जीवन छोटा है।... आप जहाँ-तहाँ किसी की एक झलक पाने या किसी से एक बात कहने के लिए भागते रहेंगे, जब कि उसी बीच राजाओं, रानियों, महापुरुषों का यह शाश्वत दरबार आप के लिए खुला हुआ है? यह दरबार जो पूरे विश्व जितना वृहत है, असंख्य है, और नितांत चुने हुए और शक्तिशाली, हर स्थान और हर काल के महान लोगों से भरा हुआ? जहाँ आप सदैव प्रवेश कर सकते हैं, अपनी इच्छा से उन में अपना साथी चुन सकते हैं, जहाँ से आप को कभी निकाला नहीं जाएगा, सिवा आप की अपनी गलती से। क्योंकि वहाँ आप के चयन से आप की भी आंतरिक कुलीनता की निश्चित परीक्षा हो जाएगी। ...

वह दिवंगत महापुरुषों का समाज जीवित हस्तियों से केवल इस बात में भिन्न है - कि वह केवल परिश्रमी और गुणवानों के लिए खुला हुआ है, और किसी के लिए नहीं। उस दरबार के दरबानों को कोई धन रिश्वत नहीं दे सकता, कोई पद उन्हें प्रभावित नहीं कर सकता, कोई चतुराई उन्हें बहका नहीं सकती। गहरे अर्थ में कहें तो, कोई दुष्ट या फूहड़ वहाँ प्रवेश नहीं पा सकता। विश्व की उस शानदार बस्ती के द्वार पर बस एक संक्षिप्त सवाल होगा: 'क्या तुम प्रवेश के योग्य हो? ठीक है, प्रवेश करो। क्या तुम भद्र लोगों के संगी बनना चाहते हो? अपने को भद्र बनाओ, और तुम उन के साथ हो जाओगे। क्या तुम में उन विवेकवानों की बातें सुनने की चाह है? उन्हें समझना सीखो, और तुम सुनने लगोगे। किन्तु किसी अन्य शर्तों पर वहाँ प्रवेश? हरगिज नहीं। यदि तुम हमारी ऊँचाई तक नहीं उठ सकते, तो हम तुम्हारे स्तर पर झुकने वाले नहीं हैं। जीवित हस्तियाँ दिखावा भले करें, जीवित विचारक तुम्हें समझाने में भले कष्ट उठाएं, पर यहाँ हम न दिखावा करते हैं, न व्याख्या करते हैं। यदि तुम हमें जानते हो, हमारी बातों से लाभ उठाना चाहते हो, तो तुम्हें हमारे चिंतन के स्तर तक उठना होगा।'

यह आप को करना होगा। और मैं मानता हूँ कि यह अपेक्षा बड़ी है। आप को उन महापुरूषों से प्रेम करना होगा, यदि आप आप उन के समाज में जाना चाहते हैं। वहाँ कोई महत्त्वाकांक्षा काम नहीं आएगी। आप अपना प्रेम दो तरह से दिखा सकते हैं। एक, उन से सीखने की सच्ची चाह। .... दूसरा, उन की बातों में अपनी बात न ढूँढो, पहले उन की बातों का उन का अर्थ समझने का प्रयत्न करो। और यदि लेखक मूल्यवान है, उस के अर्थ तक आप तुरत नहीं पहुँच सकेंगे। उस की पूरी बात समझने में तो आप को काफी समय लगेगा। इसलिए नहीं कि वह जो समझता है, वह कह नहीं रहा, या सशक्त शब्दों में नहीं कह रहा, बल्कि वह सब कुछ तुरत नहीं कह सकता, और जो और विचित्र है, वह सब कुछ तुरत नहीं कहेगा, बल्कि छिपे रूप में, रूपकों के माध्यम से, ताकि वह आश्वस्त हो सके कि आप सचमुच उसे समझना चाहते हैं। ...

यह जैसे धरती से सोने की खुदाई करने की तरह का ही परिश्रम है। वही सोना जो विवेक का भौतिक रूप है। ... प्रकृति उसे बना-बनाया नहीं देती। ... ठीक वैसे ही मनुष्य का सर्वोत्तम विवेक पाने के लिए भी उसी पद्धति के धैर्यपूर्ण परिश्रम की आवश्यकता होती है।

– 'ऑफ किंग्स ट्रेजरीज' (1864)

II

स्त्री स्वभाव का पुरुष स्वभाव से क्या संबंध है, बुद्धि और गुणों में उन की क्या भिन्न क्षमताएं हैं, इन पर आज तक पूरी सहमति से कोई हिसाब नहीं लगाया जा सका है। हम स्त्रियों के 'मिशन' और 'अधिकारों' के बारे में सुनते रहते हैं, मानो वे पुरुष के मिशन और अधिकारों से कभी अलग हो सकते हैं। मानो स्त्री और उस का पति दो स्वतंत्र प्रकार के जीव हों, जिन के दावे या आवश्यकताएं विसामञ्जस्यकारी हों। कम से कम यह बात तो गलत है। ...

यह कहने में कि पुरुष या स्त्री में से कोई 'ऊँचा' है, हम मूर्ख हैं, और साफ-साफ मूर्ख हैं। मानो किन्हीं समान चीजों में दोनों की तुलना हो सकती हो। जबकि दोनों में से एक के पास कुछ है, जो दूसरे में नहीं है। दोनों एक

दूसरे को पूरा करते हैं: एक दूसरे के द्वारा पूर्ण होते हैं। किसी चीज में दोनों समान नहीं हैं। दोनों की प्रसन्नता और पूर्णता एक दूसरे से लेने और देने में है, वह चीज जो एक को केवल दूसरा ही दे सकता है।

अब मैं पुन: वह अवश्य दुहराऊँ जो पिछले व्याख्यान ('ऑफ किंग्स ट्रेजरीज') में कह चुका हूँ। वह यह कि शिक्षा का पहला उपयोग है हमें इस योग्य बनाना कि गंभीर कठिनाई के सभी मामलों में हम सब से विवेकवान और महान लोगों की सलाह प्राप्त कर सकें। अर्थात पुस्तकों का ठीक से उपयोग, मदद के लिए उन के पास जाना: उन से अपील करना, जब हमारी अपनी जानकारी और सोचने की शक्ति विफल हो गई हो। तब उन के द्वारा वृहत दृश्य में ले जाया जाना – अधिक सही धारणा तक पहुँचना – उस से अधिक सही जो हमारी धारणा है, और अपने अकेले और अस्थिर फैसले के विरुद्ध उन से सर्वकालिक निर्णयकर्ताओं और सलाहों का संयुक्त फैसला प्राप्त करना। ...

– 'ऑफ क्वीन्स गार्डेन्स' (1865)

परिशिष्ट - 4

बंकिम चन्द्र

पाप का फल कभी पवित्र नहीं होता। इसलिए तुम देश का उद्धार नहीं कर सकते। और, जो होगा, भला ही होगा। अंग्रेजों के राजा न होने से सनातन धर्म के पुनरुद्धार की सम्भावना नहीं। इसे महापुरुषों ने जैसा समझा है, वैसा ही तुम्हें समझाऊँ। ध्यान देकर सुनो। तैंतीस करोड़ देवता की पूजा सनातन धर्म नहीं है, वह एक अपकृष्ट लौकिक धर्म है, उस के प्रभाव से सच्चा सनातन धर्म — म्लेच्छ जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं — लुप्त हो गया है। प्रकृत सनातन धर्म ज्ञानात्मक है, कर्मात्मक नहीं। वह ज्ञान दो तरह का है, बाहरी और आंतरिक। आन्तरिक जो ज्ञान है, वही सनातन धर्म का प्रधान अंग है। लेकिन बिना बहिर्ज्ञान के अन्तर्विषयक ज्ञान पैदा होने की संभावना नहीं। स्थूल क्या है, वह जाने बिना सूक्ष्म को नहीं जाना जा सकता। इस देश में बहुत दिनों से बहिर्विषयक ज्ञान लुप्त हो गया है — इसलिए प्रकृत सनातन धर्म को फिर से जगाने के लिए पहले बहिर्ज्ञान का प्रचार आवश्यक है। अभी वह ज्ञान देश में नहीं है, उसे सिखा सके, ऐसा आदमी नहीं है, हम लोकशिक्षा में कुशल नहीं हैं। अत: दूसरे देश से बहिर्विषयक ज्ञान लाना होगा। अंग्रेज इस ज्ञान के पंडित हैं, लोकशिक्षा में पटु हैं। फलस्वरूप अंग्रेज को राजा बनाएंगे। अंग्रेजी शिक्षा से लोग बाहरी तत्व के जानकार होकर अन्तस्तत्व समझने में समर्थ होंगे। तब सनातन धर्म के प्रचार की कोई बाधा नहीं रहेगी। तब सच्चा धर्म स्वयं पुनरुद्दीप्त होगा। जब तक ऐसा नहीं होता, जब तक हिन्दू ज्ञानवान, गुणवान और बलवान नहीं होते, तब तक अंग्रेजी राज्य अवश्य रहेगा। अंग्रेजी राज्य में लोग सुखी होंगे — निष्कंटक धर्माचरण करेंगे। अतएव अंग्रेजों से लड़ने की चिन्ता छोड़ मेरा अनुसरण करो।

तुम्हारा व्रत सफल हुआ — तुम ने माँ का मंगल किया, अंग्रेजों का राज्य ले आए। अंग्रेज मित्र हैं।

– *आनन्द मठ* (1882)

परिशिष्ट-5

जॉर्ज ऑरवेल

I

राष्ट्रवाद और देशभक्ति

'राष्ट्रवाद' से मेरा अभिप्राय है, सब से पहले तो ऐसा मानने की आदत कि मनुष्यों को कीड़ों की तरह वर्गीकृत किया जा सकता है। और लाखों या करोड़ों मनुष्यों के एक भाग को पूरे विश्वास से 'अच्छे' या 'बुरे' का तमगा दिया सकता है। दूसरे, जो उस से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है, मेरा अभिप्राय है अपने को किसी एक राष्ट्र या इकाई से जोड़कर देखना, और उसे अच्छे या बुरे से परे रखना, और उस राष्ट्र के हित-संवर्धन मात्र को ही अपना कर्तव्य समझना।

राष्ट्रवाद को देशभक्ति से गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए। दोनों शब्द सामान्यत: इतने धुँधले भाव से प्रयोग किए जाते हैं कि उन की किसी भी परिभाषा पर प्रश्न उठना संभावित रहता है। किन्तु उन दोनों शब्दों में अंतर अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह दो भिन्न, यहाँ तक कि विपरीत धारणाओं का मामला है। 'देशभक्ति' किसी विशेष स्थान और जीवन-शैली के प्रति प्रेम है, जिस के प्रति किसी को विश्वास हो कि वह पूरी दुनिया में सर्वोत्तम है। किन्तु वह इसी को दूसरे लोगों पर थोपने का कोई आग्रह नहीं रखता। सो, देशभक्ति अपनी प्रकृति से ही रक्षात्मक है, सैन्य और सांस्कृतिक दोनों तरह से। दूसरी ओर, राष्ट्रवाद शक्ति की चाह रखने से अभिन्न है। हर राष्ट्रवादी का स्थाई उद्देश्य होता है अधिक शक्ति और अधिक प्रतिष्ठा हासिल करना, अपने लिए नहीं बल्कि उस राष्ट्र या इकाई के लिए जिस में उस ने अपनी अस्मिता को डुबा देना तय किया है। ...

राष्ट्रवाद के वृहत अर्थ में कम्युनिज्म, राजनीतिक कैथोलिसिज्म, जियनिज्म,

एंटी-सेमिटिज्म, ट्रॉट्स्कीज्म, और पेसिफिज्म समेत कई आंदोलनों और प्रवृत्तियों को भी गिना जा सकता है। अत: राष्ट्रवाद का अर्थ जरूरी तौर पर किसी विशेष सरकार या देश के प्रति ही वफादारी रखना नहीं है। अपने देश के प्रति वफादारी भी राष्ट्रवाद का अर्थ नहीं है। यह किसी ठोस भूखंड के प्रति ही नहीं, बल्कि एक समूह, मतवाद या भाव के प्रति भी (राजनीतिक) वफादारी हो सकती है, जैसे यहूदी समूह, इस्लाम, क्रिश्चियन जगत, मजदूर वर्ग, और श्वेत नस्ल के प्रति। ये सभी विषय तीव्र राष्ट्रवादी आवेगों के हैं। जबकि उन के अस्तित्व पर गंभीर प्रश्न उठाए जा सकते हैं। उन की किसी भी परिभाषा पर भी कोई सार्वभौमिक सहमति नहीं पाई जा सकती। ...

जो समकालीन राजनीति के प्रति गहरी रुचि रखते हैं, उन के लिए कुछ विषय ऐसी प्रतिष्ठा से जुड़ जाते हैं जिन पर सच्चे विवेकशील तरीके से विचार करना असंभव हो जाता है। ऐसे सैकड़ों विषय कोई चुन सकता है, पर उदाहरण के लिए यही प्रश्न लीजिए: (नाजी) जर्मनी की हार में इन तीन मित्र देशों में किस का योगदान सब से अधिक है - सोवियत संघ, ब्रिटेन, या संयुक्त राज्य अमेरिका? सिद्धांतत: इस का विवेकशील और अंतिम उत्तर देना संभव है। किन्तु व्यवहार में इस पर सुसंगत आकलन नहीं होता। क्योंकि जो भी इस प्रश्न पर माथा लगाएगा इस में निश्चित रूप से (किसी देश की) तुलनात्मक प्रतिष्ठा देखेगा। इसलिए, पहले वह रुस, ब्रिटेन या अमेरिका के पक्ष में तय कर लेगा, जैसा उसे ठीक लगे, और फिर उस के पक्ष में उपयुक्त लगने वाले तर्क ढूँढेगा।

इस प्रकार के ढेर के ढेर प्रश्न हैं जिस पर आप को सत्यनिष्ठ उत्तर उसी व्यक्ति से मिल सकता है जो उस प्रश्न से जुड़े मुद्दों पर तटस्थ हो, और जिस के विचार का वैसे भी कहीं कोई महत्त्व न हो। अंशत: इसीलिए, हमारे युग में राजनीतिक और सैन्य भविष्यवाणियाँ विफल हुआ करती हैं जो ध्यान देने लायक है। यह देखना रोचक है कि तमाम वैचारिक संप्रदायों के 'विशेषज्ञों' में एक भी न था जो एक सहज संभावित घटना, 1939 ई. में हुई रूस-जर्मन संधि, का पहले कोई अनुमान लगा पाया था। और जब इस संधि का समाचार आया, तो इस की एक-दूसरे से एकदम उलटी विविध व्याख्याएं आने लगी, और ऐसी-ऐसी भविष्यवाणियाँ की गईं जो लगभग किए जाते ही झूठी साबित हो गईं। यह सब केवल इसलिए क्योंकि वे भविष्यवाणियाँ किन्हीं वास्तविक संभावनाओं का अध्ययन करके नहीं की गई थीं, बल्कि इस चाह से कि सोवियत संघ को अच्छा

या बुरा, मजबूत या कमजोर दिखाएं। राजनीतिक या सैन्य टिप्पणीकार, ज्योतिषियों की तरह ही, हर तरह की गलत बातें कह कर भी टिके रह सकते हैं, क्योंकि उन के अधिक भक्त अनुयायी उन की ओर किसी सत्यनिष्ठ आकलन की आशा से नहीं बल्कि अपने राष्ट्रवादी मनोभाव को तुष्ट, पुष्ट करने के लिए देखते हैं। ऐसे राजनीतिक मूल्यांकनों की तरह ही कलात्मक और साहित्यिक मूल्यांकन भी प्राय: विकृत किए जाते हैं। किसी भारतीय राष्ट्रवादी के लिए (रडयार्ड) किपलिंग को पढ़ते हुए आनन्दित होना, या किसी ब्रिटिश कंजरवेटिव के लिए (व्लादीमीर) मायकोवस्की में कोई प्रतिभा देखना कठिन है। सदैव यह दावा करने की प्रवृत्ति रहती है कि जिस पुस्तक के विचारों से कोई असहमत है उसे साहित्यिक रूप से भी बुरा बताए। पक्का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण रखने वाले लोग बिना मिथ्याचार की भावना के भी ऐसी चतुर धोखाधड़ी प्राय: करते हैं।

– 'नोट्स ऑन नेशनलिज्म', 1945

II

बौद्धिक स्वतंत्रता और उस के शत्रु

बिलकुल निम्न स्तर से ऊपर, सभी साहित्य लेखन अपने अनुभवों को दर्ज कर अपने समकालीनों के दृष्टिकोण को प्रभावित करने का प्रयास है। और जहाँ तक अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की बात है, किसी पत्रकार और सब से 'अ-राजनीतिक' रचनात्मक लेखक में अधिक अंतर नहीं है। जब पत्रकार को झूठ लिखने या जिसे वह महत्त्वपूर्ण समझता है वैसा समाचार दबाने के लिए बाध्य होना पड़ता है तो वह स्वतंत्र नहीं है और अपनी यह स्थिति वह जानता है। किन्तु रचनात्मक लेखक भी स्वतंत्र नहीं है यदि उसे अपनी अनुभूतियों को झुठलाना पड़े, जिन अनुभूतियों को वह सही समझता है। वह वास्तविकता को विकृत कर सकता है, पर अपने ही मस्तिष्क की समझ को गलत प्रस्तुत नहीं कर सकता। जिस चीज को वह नापसंद करता है उस के बारे में निष्ठा से नहीं कह सकता कि वह उसे पसंद है, या जिस पर उसे विश्वास नहीं उस पर विश्वास होना नहीं कह सकता। यदि वह ऐसा करने के लिए बाध्य हो जाए तो इस का एकमात्र

परिणाम होगा कि उस की रचनात्मक क्षमता सूख जाएगी। वह विवादास्पद विषयों से दूर रहकर भी इस समस्या को हल नहीं कर सकता। विशुद्ध अ-राजनीतिक साहित्य जैसी कोई चीज नहीं होती, और हमारे युग में तो और भी नहीं, जब किसी न किसी राजनीतिक प्रकार के भय, घृणा और वफादारियाँ हरेक की चेतना की सतह के निकट हैं। यहाँ तक कि केवल एक टैबू विषय (जिस पर कहने-लिखने से बचना हो) भी मस्तिष्क को दुष्प्रभावित कर सकता है, क्यों कि यह खतरा बना रहेगा कि किसी भी विषय पर स्वतंत्रता पूर्वक अवलोकन करने, लिखने में वह उस वर्जित विषय तक न पहुँच जाए। इस का निष्कर्ष यह है कि सर्वाधिकारवाद का वातावरण किसी भी प्रकार के गद्य-लेखक के लिए मारक होता है। और किसी भी सर्वाधिकारवादी समाज में यदि दो पीढ़ी से अधिक ऐसी स्थिति रही तो यह संभव है कि गद्य साहित्य, जो विगत चार सौ सालों से रहा है, वस्तुत: निश्चित रूप से समाप्त हो जाए। ...

सर्वाधिकारवाद किसी विश्वास, फेथ, के बदले संगतिहीन वैचारिक प्रवृत्ति, स्कीजोफ्रेनिया, को बढ़ावा देता है। कोई समाज सर्वाधिकारवादी हो जाता है जब उस की संरचनाएं मनमाने तौर से दिखावटी हो जाती हैं। अर्थात् जब उस का शासक वर्ग अपना काम छोड़ देता है पर ताकत या धोखाधड़ी द्वारा सत्ता से चिपके रहने में सफल रहता है। ऐसा समाज चाहे जितने समय बना रहे पर वह न तो सहिष्णु और न ही बौद्धिक रूप से स्थिर हो सकता है। वह न तो सच्चाई को दर्ज करने की अनुमति देता है, न भावनात्मक निष्ठा को, जो साहित्य लेखन के लिए जरूरी होता है। किन्तु सर्वाधिकारवादी मानसिकता से भ्रष्ट हो जाने के लिए आवश्यक नहीं कि कोई सर्वाधिकारवादी शासन वाले देश में रहे। समाज में कुछ विचारों का प्रचलन मात्र ऐसा विष फैला सकता है कि एक के बाद एक विषयों पर लिखना असंभव हो जाए। जहाँ भी किसी विषय पर - या दो विषयों पर, जो प्राय: होता है - खास तरह का जड़सूत्री मतवाद, ऑर्थोडॉक्सीज, थोप दिया जाए तो अच्छा लेखन बंद हो जाता है। ...

गद्य साहित्य बुद्धिवादी युग की देन है, जब व्यक्ति की वैचारिक, भावनात्मक स्वतंत्रता को स्वीकृति मिली। इस बौद्धिक स्वतंत्रता को चोट पहुँचाने से क्रमश: पत्रकार, समाजशास्त्रीय लेखक, इतिहासकार, उपन्यासकार, समालोचक, और कवि पंगु बनते हैं। उसी क्रम में। ...

अभी तक सर्वाधिकारवाद पूरी तरह कहीं सफल नहीं हुआ है। हमारा अपना समाज (ब्रिटेन), मोटे तौर पर, अभी तक उदार है। स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अपने

अधिकार का प्रयोग करने के लिए आप को आर्थिक दबाव और लोकमत के ताकतवर हिस्सों से लड़ना पड़ेगा, लेकिन यहाँ किसी सीक्रेट पुलिस का दबाव नहीं है। आप लगभग कुछ भी बोल या छाप सकते हैं जब तक कि आप किनारे रह कर यह करने के लिए तैयार हों। लेकिन सब से अनिष्टकर स्थिति वह है जब जिन के लिए बौद्धिक स्वतंत्रता सब से मूल्यवान है वे ही इस के सचेत शत्रु हो जाएं। आम जनता इस विषय की ऐसे या वैसे कोई परवाह नहीं करती। आम लोग किसी मतभेद रखने वाले व्यक्ति को न सताने जाते हैं, न उसे बचाने के लिए ही कोई प्रयास करते हैं। आम लोग एक साथ इतने विवेकशील और इतने मूढ़ भी हैं कि सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण नहीं रख सकते। बौद्धिक गरिमा पर सीधी, सचेत चोट स्वयं बौद्धिकों द्वारा की जाती है। ...

लेकिन जो भी लेखक सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण अपनाता है, जो भी सच लिखने-बोलने वाले को प्रताड़ित करने और वास्तविकता की लीपापोती करने के पक्ष में दलीलें गढ़ता है, वह स्वयं लेखक के रूप में अपने को खत्म करता है। इस से बचने का कोई उपाय नहीं। स्वतंत्र लिखने-बोलने वाले के विरुद्ध 'व्यक्तिवादी', 'आरामकुर्सी पर रहने वाला', जैसे आक्षेप या ऐसी निरर्थक दलीलें कि 'सच्चा व्यक्तित्व वही है जो अपने समाज के साथ जुड़कर चलता है', आदि इस तथ्य पर पर्दा नहीं डाल सकती कि एक बिका हुआ दिमाग बेकार हो चुका दिमाग है। जब तक स्वत:स्फूर्त लिखने बोलने की गुंजाइश न हो तब तक साहित्यिक लेखन असंभव है, बल्कि तब तो भाषा तक पथरा जाती है। भविष्य में यदि कभी मानव मस्तिष्क बिलकुल ही कुछ और हो जाए, और तब हम साहित्यिक लेखन को बौद्धिक सत्यनिष्ठा से अलग करना सीख लें तो और बात है। किन्तु आज के लिए हम जानते हैं कि मानवीय कल्पनाशीलता और रचनात्मकता भी, कुछ जंगली जानवरों की तरह ही, कैद में नहीं फलती-फूलती। कोई भी लेखक या पत्रकार जो इस से इंकार करता है – और आज सोवियत संघ की प्रशंसा करने वाले लगभग सभी विवरणों में खुले या छिपे यही चीज है – वह वस्तुत: अपने ही विनाश की माँग कर रहा है।

– 'द प्रिवेन्शन ऑफ लिटेरेचर', 1945-46

(''द प्रिवेन्शन ऑफ लिटेरेचर'' के उक्त अंश में 'सर्वाधिकारवाद' और 'लेखक' का आशय अपनी तार्किक और व्यावहारिक निष्पति में शिक्षा क्षेत्र और शिक्षक, शैक्षिक पाठ, आदि बनाने को भी जोड़ता है। यह लेख आज से लगभग अस्सी वर्ष पहले लिखा गया

था, तब के बाद सोवियत संघ के इतिहास से भी यह देखा जा सकता है कि वहाँ सामाजिक विषयों की शिक्षा तथा बौद्धिकता का कितना पतन हुआ। जिस रूस में उस से पचास वर्ष पहले तक असंख्य विश्व-प्रसिद्ध रचनाकार और चिंतक होते रहे, वहाँ साहित्य लेखन और सामाजिक, दार्शनिक, शैक्षिक चिंतन लगभग शून्य हो गया। साइंस और टेक्नोलॉजी के सिवा सभी विषयों की सामान्य शिक्षा भी घोर विकृत होकर अत्यंत दयनीय हो गई। जैसा कि ऑरवेल ने अपने देश इंग्लैंड को जोड़ते हुए चेतावनी दी थी कि सर्वाधिकारवादी मानसिकता केवल सर्वाधिकारी शासन वाले देशों में ही हानिकारक नहीं, वह ऐसे उदार लोकतांत्रिक देशों में भी तरह-तरह के रूप में फैल सकती है जिस में साहित्य, इतिहास और वर्तमान के बारे में विभिन्न बिन्दुओं पर जबरन कुछ निष्कर्षों को थोपने, तथ्यों में हेरफेर करने, या अनेक बातों पर पर्दा डालने की प्रवृत्ति होती है। स्वयं भारत में ही इन विषयों में लंबे समय से यही वृद्धिमान रूप से होता रहा है। इसलिए, जॉर्ज ऑरवेल की यह बातें रचनात्मक लेखन और शिक्षा संबंधी विविध कार्यों पर समान रूप से लागू हैं। - लेखक)

परिशिष्ट-6

रवीन्द्रनाथ टैगोर

I

जैसे ही बच्चा बोलना सीखता है, वह कहता है: ''मुझे एक कहानी सुनाओ।'' नानी शुरू करती है: ''किसी समय की बात है, एक राजकुमार था और उस का एक मित्र, जो राजा के मंत्री का बेटा था...''

स्कूलमास्टर नानी को रोक देता है, और कहता है: ''तीन गुने चार, बराबर बारह।''

शुभचिंतक लोग बच्चे को दिन-रात सुनाते रहते हैं: ''तीन गुने चार, बराबर बारह: यह एक सत्य है। जबकि राजकुमार वाली बात एक काल्पनिक गल्प है। इसलिए...''

यह बात बच्चे को अपील नहीं करती, क्यों कि उस का मन उड़ कर उस अनजान प्रदेश में पहुँच गया है जहाँ राजकुमार ने एक दुष्ट राक्षस को मार दिया है। किसी गणित में वहाँ पहुँच सकने के पंख नहीं हैं।

शुभचिंतक लोग सिर हिलाते हुए कहते हैं: ''बिगड़ गया, बिलकुल बिगड़ गया है बच्चा। छड़ी ही इस का एक मात्र उपचार है।''

नानी को स्कूलमास्टर ने चुप करा दिया। मगर एक कहानी कहने वाले का स्थान दूसरा ले लेता है। उन का भी कोई अंत नहीं है। शुभचिंतक व्यर्थ दुहराते हैं: ''वे कहानियाँ कहीं इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलतीं। वे झूठी हैं।''

प्राथमिक से उच्च विद्यालय, स्कूल से कॉलेज तक कोशिश चलती रहती है कि लड़के को सुधारा जाए। पर कुछ भी उस की माँग बंद नहीं कर सकता: ''मुझे एक कहानी सुनाओ।''

सारी दुनिया में, हर घर में, सालों साल कहानियाँ जमा होती जाती हैं। लिखी हुई और जबानी भी, और मनुष्य की सभी अन्य विरासत पर भारी पड़ती हैं।

शुभचिंतकों ने कभी इस बिन्दु पर स्पष्ट रूप से सोचने की परवाह नहीं की कि कहानियाँ रचना स्वयं संसार के रचयिता का शौक रहा है। जब तक उस रचयिता से इस आदत को आप नहीं छुड़ाते, तब तक इसे मानव-जाति से भी नहीं छुड़ा सकते।

एक बार, उस संसार रचयिता ने अपने कारखाने में तत्वों से कुछ बनाना शुरू किया। तब ब्रह्मांड एक भाप के समूह जैसा था। पत्थर और धातु तह पर तह पड़े थे। यदि उस दिन रचयिता को आप ने देखा होता, तो आप सोच नहीं सकते थे कि उस में किसी बाल-मन का लेश भी है। उस समय वह जो भी कर रहा था वह था जिसे 'ठोस काम' कहा जाता है।

फिर जीवन का आरंभ होना शुरू हुआ। घास जन्मी, पेड़ उगे, और फिर चिड़िया और जानवर और मछलियाँ। कुछ ने घोंसले बनाए। दूसरों ने धरती पर दौड़ लगाई और अपनी संततियाँ बढ़ाईं। कुछ जल की सतह के नीचे छिप रहे।

युग बीतते गए। अंततः, एक दिन रचयिता ने मनुष्य बनाया। उस समय तक वह कुछ वैज्ञानिक, कुछ वास्तुकार था। अब वह साहित्यिक कलाकार बन गया। उस ने मनुष्य की आत्मा को गल्प से विकसित करना आरंभ किया। पशु खाते थे, सोते थे, अपने बच्चे पालते थे। मगर मनुष्य का जीवन कहानी की सामग्री से आगे बढ़ा - भावनाओं की भावनाओं से, व्यक्ति का समाज से, मन का शरीर से, कामना का त्याग से हुए टकरावों से बने भँवरों से होते हुए।

जैसे नदी जल की एक बहती हुई धारा है, उसी तरह मनुष्य गल्प की एक बहती हुई धारा है। जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तो अनिवार्यतः प्रश्न होता है: ''क्या नया समाचार? फिर क्या हुआ?'' इस के उत्तरों ने पूरी पृथ्वी पर एक जाल रच दिया है। वे जीवन की कथाएं हैं, मनुष्य का सच्चा इतिहास।

इतिहास और कहानी मिल कर हमारी दुनिया बनाते हैं। मनुष्य के लिए अशोक और अकबर का इतिहास ही एकमात्र सत्य नहीं है। उस के लिए उस राजकुमार की कहानी भी उतनी ही सत्य है जो अनमोल रत्न खोजने सात समुद्र पार करता है। मनुष्य के लिए कोई मिथकों का व्यक्ति उतना ही सच है जितना कोई ऐतिहासिक व्यक्ति। मामला यह नहीं कि कौन अधिक विश्वसनीय तथ्य

है, बल्कि कौन अधिक आनन्ददायक है।

मनुष्य कला की एक कृति है। उसे बनाने में न तो यांत्रिकता, न ही नीति, बल्कि कल्पनाशीलता पर बल दिया गया है। मनुष्य के शुभचिंतक इस सत्य पर पर्दा डालना चाहते हैं, किन्तु सत्य लपट के साथ चमकता है और उस पर्दे को जला देता है। अंततः, निराश होकर, स्कूलमास्टर और मनुष्य के शुभचिंतक नीति और गल्प के बीच संधि करने की शर्तें रखते हैं। किन्तु दोनों मिलते ही एक दूसरे पर प्रहार करते हैं, और बर्बादी के ढेर के ढेर बढ़ते जाते हैं।

('टेल मी ए स्टोरी')

II

लाइब्रेरी

लाइब्रेरी में हम लोग हजार रास्तों की चौमुहानी पर खड़े हैं। कोई रास्ता अनन्त समुद्र की ओर उठा है, कोई रास्ता अनन्त शिखर की ओर उठा है, कोई रास्ता मानव हृदय की अतल गहराई में उतरा है। जिधर जिस का जी चाहे दौड़े, कहीं कोई बाधा नहीं। मनुष्य ने अपनी मुक्ति को इस जरा सी जगह में बाँध कर रख दिया है।

शंख में जिस तरह समुद्र का स्वर सुनाई पड़ता है उसी तरह तुम क्या इस लाइब्रेरी में हृदय के उत्थान-पतन का शब्द सुनते हो? यहाँ पर जीवित और मृत व्यक्तियों का हृदय पास-पास एक ही मुहल्ले में रहता है। यहाँ पर वाद और विवाद दो भाइयों की तरह साथ-साथ रहते हैं। संशय और विश्वास, संधान और आविष्कार यहाँ पर अंग से अंग मिलाकर रहते हैं। यहाँ पर महा-प्राण और अल्प-प्राण धैर्य और शान्ति के साथ साथ-साथ जीवन-यात्रा का निर्वाह कर रहे हैं, कोई किसी की उपेक्षा नहीं करता।

कितने नदी, समुद्र, पर्वत पार करके मानव का कंठ यहाँ पर पहुँचा है - कितने सैकड़ों वर्षों के मैदान से यह स्वर आ रहा है। आओ, यहाँ आओ, यहाँ आलोक के जन्म-संगीत का ज्ञान हो रहा है।

अमृत लोक की पहली बार खोज करके जिन महापुरुषों ने जब कभी अपने चारो ओर के मनुष्यों को पुकार कर कहा था, 'तुम सब अमृत पुत्र हो, तुम

दिव्यधाम में वास करते हो।' उन्हीं महापुरुषों का कंठ हजारों भाषाओं में हजारों वर्षों से इस लाइब्रेरी में प्रतिध्वनित हो रहा है।

– 'लाइब्रेरी' (1886)

III

विपदा से रक्षा करो, यह न मेरी प्रार्थना

विपदाओं से रक्षा करो –
यह न मेरी प्रार्थना,
यह करो: विपद् में न हो भय।
दु:ख से व्यथित मन को मेरे
भले न दो सांत्वना,
यह करो: दु:ख पर मिले विजय।
मिल सके न यदि सहारा,
अपना बल न करे किनारा; –
क्षति ही क्षति मिले जगत में
मिले केवल वंचना,
मन–जगत् में लगे न क्षय।

करो तुम्हीं त्राण मेरा –
यह न मेरी प्रार्थना,
तरण–शक्ति रहे अनामय।
भार भले कम न करो,
भले न दो सांत्वना,
यह करो: ढो सकूँ, भार–चय।
सिर नवाकर झेलूँगा सुख,
पहचानूँगा तुम्हारा मुख,

मगर दु:ख-निशा में सारा
जग करे जब वंचना,
यह करो: तुम में न हो संशय।

IV

जहाँ चित्त भय-शून्य

जहाँ चित्त भय-शून्य, जहाँ सिर उन्नत;
ज्ञान मुक्त; प्राचीर गृहों के, अक्षत
वसुधा का जहाँ न करके खंड-विभाजन
दिन-रात बनते छोटे-छोटे आँगन;
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते
हो जहाँ; जहाँ कि अजस्र कर्म के सोते
अव्याहत दिशि-दिशि, देश-देश बहते हों,
चरितार्थ सहस्रों-विध होते रहते हों; -
धारापथ को न विचारों के, ग्रस लेती
हो जहाँ तुच्छ आचारों की मरु-रेती;
शतधा न जहाँ पुरुषार्थ; जहाँ पर संतत
सब कर्म-भाव आनन्द, तुम्हारे अनुगत;
हे पिता, उसी स्वर्लोक में करो जाग्रत,
निज-कर निर्दय ठोकर दे कर, यह भारत!

परिशिष्ट–7

रॉबर्ट एम. हचिन्स

उदार, महान मूल्यों की वह शिक्षा क्यों लुप्त हो गई? वह तो हमारे देश के संस्थापकों की शिक्षा थी। उस का वर्चस्व पचास वर्ष पहले (बीसवीं सदी के आरंभ) तक जारी था। अब वह लगभग समाप्त हो चुकी है। मैं इस का दोष दो कारकों को देता हूँ। आंतरिक क्षय, और बाहरी भ्रम।

बीसवीं सदी की पहली चौथाई का अंत होते होते महान ज्ञान पुस्तकों और उदार मूल्यों की शिक्षा देने वाले शिक्षकों ने उसे नष्ट कर दिया। महान पुस्तकें स्कॉलरों की निजी रुचि के क्षेत्र में बदल गईं। केवल उन पुस्तकों को 'क्लासिक' कहना सीमित कर दिया गया जो ग्रीक और लैटिन में लिखी गई थीं। ह्वाइटहेड ने वैज्ञानिकों के बारे में वर्ड्सवर्थ की टिप्पणी का उल्लेख किया है, जो 'चीड़-फाड़ करने के लिए हत्या करते हैं
'। इस से वह आगे सही ही कहते हैं कि 'उन की तुलना में पिछले समय में क्लासिकल स्कॉलर तो पक्के हत्यारे ही थे।' यह मान लिया गया कि क्लासिकल ग्रंथ केवल मूल भाषाओं में ही पढ़े जा सकते हैं। फलत: बरसों तक कक्षाओं में प्लेटो और लुक्रेटियस पढ़ने वाला कोई छात्र भी नहीं जान पाता था कि उन में कोई गंभीर शिक्षाएं भी हैं। उस के प्रोफेसरों की उन शिक्षाओं में रुचि होने की संभावना शायद ही थी। उन की रुचि शब्दों और उच्चारणों के विवरणों में थी। उन के हाथों में उदार मूल्यों की शिक्षा यांत्रिक कर्मकांड जैसी बदल गई।

सो, बीसवीं सदी की पहली चौथाई खत्म होते होते वे ग्रीक और लैटिन पुस्तकें मात्र प्रवेश परीक्षा या स्नातक परीक्षा पास करने भर मतलब की रह गईं। उन महान पुस्तकों को अपने क्षेत्राधिकार के दरबे में बंद रखकर मजे से बैठे प्रोफेसर लोग इस बात से अबोध थे कि वे नई पीढ़ियों को उन की सांस्कृतिक

विरासत के महत्त्वपूर्ण भाग से वंचित कर रहे थे। उन महान शिक्षाओं को समझने के प्रशिक्षण से वंचित कर रहे थे। और वे इस से भी अबोध थे कि इस प्रकार वे अपने अस्तित्व का कारण भी खत्म कर रहे थे।

दर्शन, इतिहास, साहित्य और वे विषय जो दर्शन शास्त्र से आगे चल कर निकले – राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान – ये सब दूसरे प्रकार के क्षरण के शिकार हुए। वे अध्ययन में कथित वैज्ञानिक विधि की प्रकृति और क्षेत्र के संबंध में भ्रम के शिकार हुए। इस भ्रम ने इन विषयों की दूरी मूल दर्शन शास्त्र के ज्ञान से बढ़ा दी। जिस से इन विषयों के प्रोफेसर अनेक अंधी गलियों में बढ़ते चले गये। इस विधि संबंधी भ्रम ने दर्शन के अध्ययन में भारी परिवर्तन ला दिया। वही प्रभाव इतिहास और साहित्य के अध्ययन पर भी पड़ा।

कुल मिलाकर, मानविकी विषयों और समाज अध्ययन और इतिहास के प्रोफेसर लोग प्रायोगिक प्राकृतिक विज्ञान के चमत्कारों से लुब्ध हो उठे। उन्हें लगा कि उन विधियों के उपयोग से वे अपने विषयों में भी चमत्कार पैदा कर सकते हैं। उन्हें यह भी लगा कि उन विधियों के अतिरिक्त अन्य विधियों से प्राप्त परिणामों का कोई महत्त्व नहीं है। साथ ही साथ, ऐसी दृष्टि में पिछले ज्ञानियों, विद्वानों की बातें, उन की अंतर्दृष्टि स्वत: पुरानी और बेकार मान ली गईं जिन्होंने चिंतन और विचार परक लेखन किया था।

चूँकि समाज अध्ययन के साथ-साथ दर्शन, इतिहास, और साहित्य एवं कला के नये प्रोफेसरों ने भी अधिक से अधिक 'वैज्ञानिक' बनना ठान लिया, उन्हें विचार ज्ञान, चिंतन-मनन से और पश्चिमी ज्ञान की पिछली 'अवैज्ञानिक' परंपरा से कोई मतलब नहीं रह गया। वे पिछली उदार मूल्यों वाली शिक्षा की कोई उपयोगिता ही नहीं मान सकते थे।

इस बीच संयुक्त राज्य अमेरिका में सब के लिए सार्वजनिक शिक्षा का विचार स्थापित हो चुका था। स्कूल से पास करके निकलने की आयु बढ़ने लगी। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालयों में छात्रों की बाढ़ होने लगी। जो कमोबेश आज भी चल रही है। ऐसी बढ़ती परियोजना के लिए केवल भवन, कर्मी और तमाम व्यवस्थाएं करने में ही किसी देश की ऊर्जा और संसाधन भारी दबाव में आ सकते हैं।

यह सब विस्तार साइंस की जानकारियों में गौरवशाली वृद्धि, जिस से तकनीक की वृद्धि और फिर औद्योगीकरण की वृद्धि हुई – इन सब से संभव

हुआ। यह विशेषज्ञता की देन थे। विशेषज्ञता, प्रायोगिक विज्ञान, औद्योगीकरण नई चीजें थीं। आम लोगों को महान ज्ञान-पुस्तकें और उदार मूल्यों का चिंतन, आदि पिछले युगों की, मृत भाषाओं की, पुरातनपंथी, अवैज्ञानिक युग की वस्तुएं लगने लगी। उन्हें लगा कि उन सब से छुटकारा लेकर प्रगति तेज की जा सकती है। उन्हें यह भी लगा कि वैज्ञानिक विधि और विशेषज्ञता के उपयोग से तकनीकी प्रगति भी होगी, और औद्योगीकरण से बनी अस्त-व्यस्तता को भी ठीक कर लिया जा सकेगा।

ऐसी मानसिकता में पुराने क्लासिकल प्रोफेसरों की यांत्रिक पाठ्यचर्या और शाब्दिक मीन-मेख अध्ययन के विरुद्ध विद्रोह उचित ही था। प्रायोगिक विज्ञानों में बढ़ती नई रुचि भी उचित थी। किन्तु उदार मूल्यों वाली शिक्षा के विरुद्ध विद्रोह अनुचित था। वह विश्वास भी गलत था कि प्रायोगिक विज्ञानों वाली विधि इतिहास, दर्शन, और कलाओं के अध्ययन-समझ की विधि को विस्थापित कर सकती है। जैसा कि शैक्षिक विचार-विमर्श में होता है, लोग प्रयोग किए जा रहे शब्दों और उन के अर्थों के बीच भ्रमित हो गये। ज्ञान, दर्शन और मूल्यों की शिक्षा की मूल्यवत्ता का उन यांत्रिक पाठ्यचर्या चलाने वाले प्रोफेसरों से उतना ही लेना देना था, जितना आज उदार शिक्षा के पाठ्यक्रम चलाने वाले सामान्य कॉलेजों का उदार शिक्षा से है। यानी, नाम मात्र का।

तो, अंतत: प्रश्न है कि क्या साइंस, टेक्नोलॉजी, औद्योगीकरण, और विशेषज्ञता ने महान पुस्तकों और उन के माध्यम से मानवता के महान ज्ञानियों के साथ संवाद, ग्रेट कन्वर्सेशन, को अप्रासंगिक बना दिया है?

हम ने पाया है कि बात उलटी है। आज उन उदार ज्ञान मूल्यों का अध्ययन और चिंतन-मनन पहले से कहीं अधिक आवश्यक हो गया है। वस्तुत: वैज्ञानिक प्रगति ने पहली बार इस के लिए सुविधा और अवकाश पैदा किया है कि वह ज्ञान सभी को सुलभ हो सके।

– ''द ग्रेट कन्वर्सेशन: द सबस्टान्स ऑफ ए लिबरल एजुकेशन'',
द ग्रेट बुक्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, वोल्यूम 1 (1952: शिकागो)

परिशिष्ट-8

अज्ञेय

शक्ति का मत गर्व कर
तू उपशमन का कर,
नहीं रूपाकार को, उस में
छिपा है सार जो, वह वर!

अनुभूति से मत डर —
मगर पाखंड उस के दर्द का मत कर :
नहीं अपने-आप जो स्पन्दन डँसे
तेरी धमनियों को, त्वचा की कँपकँपी से
झूठ मत आभास उस का स्वयं
अपने को दिखाने की
उतावली से भर!

गैर को मत कोंच
तू पहचान अपनापन :
चुनौती है जहाँ
तू अविकल्प साहस कर :
'यहाँ प्रतिरोध दुर्बल है, सुलभ जय', सोच
ऐसा, साहसिक मत बन।
अभियान में जिन खाइयों में
कूदना है, कूद :

भरा है उन में अँधेरा इस लिए
मत नयन अपने मूँद!

दीठ की मत डींग भर :
जो दिखा उस के बूझने की
तू तपस्या कर :
झाड़ मत पल्ला छुड़ा कर
स्वयं अपने-आप से तू झर।
प्यास पर तू विजय पा, पर
और जो प्यासे मिलें, उन के लिए
चुप-चाप निश्चल स्वच्छ शीतल
प्राण-रस से भर।

तू उसे देखे न देखे
झर रहा जो अन्तहीन प्रकाश --
उसे माथा झुका कर पी :
तू उसे चीन्हे न चीन्हे
हो रहा जो प्राण-स्पन्दन चतुर्दिक गतिमान
उस में डूब कर तू जी।
तू उसे ओढ़े न ओढ़े
व्याप्त मानव-मात्र में है जो विशद अभिप्राय
तू न उस से टूट :
भीड़ का मत हो, डटा रह, मगर
दिग्विद पान्थ के समुदाय से तू
अकेला मत छूट।

एकाकियों की राह?
वह भी है

मगर तब जब कि वह
सब के लिए तोड़ी गयी हो।
अकेला निर्वाण?
वह भी है
अगर उस की चाह
सभी के कल्याण के हित
स्वेच्छया छोड़ी गयी हो।

कहाँ जाता है, इसे मत भूल :
कौन आता है, न इस को भी
कभी मन से उतरने दे।
राह जिस की है उसी की है।
कगारे काट, पत्थर तोड़,
रोड़ी कूट, तू पथ बना, लेकिन
प्रकट हो जब जिसे आना है
तू चुप-चाप रस्ता छोड़ :
मुदित-मन वार दे दो फूल,
उसे आगे गुजरने दे।

– *नया कवि : आत्मोपदेश* (1958)

(अज्ञेय की दृष्टि में ***एवा मे प्राण मा विभेः*** ... की भावना ही पूरी मानवता के लिए सब से मूल्यवान प्रार्थना है। इस का संपूर्ण पाठ निम्नलिखित है)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥1॥*	जिस प्रकार आकाश एवं पृथ्वी न भयग्रस्त होते हैं और न इन का नाश होता है, उसी प्रकार मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।
यथाहश्च रात्रीं च न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥2॥*	जिस प्रकार दिन एवं रात को भय नहीं होता और इन का नाश नहीं होता, उसी प्रकार मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥3॥*	जिस प्रकार सूर्य एवं चन्द्र को भय नहीं सताता और इन का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥4॥*	जैसे ब्रह्म एवं उस की शक्ति को कोई भय नहीं होता और उन का विनाश नहीं होता, वैसे ही मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।
यथा सत्यं चानृतं न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥5॥*	जैसे सत्य तथा असत्य को किसी से भय नहीं होता और इन का नाश नहीं होता, वैसे ही मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। *एवा मे प्राण मा विभेः ॥6॥*	जिस भाँति भूतकाल तथा भविष्यकाल को किसी का भय नहीं होता और जिनका विनाश नहीं होता, उसी भाँति मेरे प्राण भी भयमुक्त रहें।

अथर्ववेद, काण्ड 2, सूक्त 15

परिशिष्ट-9

नीरद चन्द्र चौधरी

I

सचमुच, ऐसी दुनिया में मानवीय मूल्यों को आपेक्षिक बताने से अधिक हास्यास्पद क्या हो सकता है जहाँ हर व्यक्ति, चाहे कितना भी अशिक्षित हो, अपनी इच्छा, चाहे वह कितनी भी भद्दी हो, से जीने के पूर्ण अधिकार का दावा करता है? मानव के सभ्य जीवन के बिलकुल आरंभ से ही, सभी लोगों द्वारा और सभी युगों में एक ही चीजों को सत्य, उचित, और सुंदर माना और स्वीकार किया जाता रहा है। इतनी सर्वसम्मति से कि वही सर्वमान्य रही हैं। सत्य, उचित, और सुंदर को आपेक्षिक बताना केवल कहीं उन की उपलब्धि की मात्रा और प्रकार के नाम पर होता है। अपने सार तत्व में वे कभी आपेक्षिक नहीं हो सकते।

– *दाय हैन्ड, ग्रेट अनार्क! इन्डिया: 1921-1952* (1987)

II

पहले हमारे लोग, विशेषकर महिलाएं, आपसी बातचीत में तरह-तरह के निकट के लोगों, संबंधियों के व्यवहार, स्वभाव, चरित्र, आदि की मीन-मेख, निन्दा, तुलना, जैसी गप्पें और जो बतकही करती थीं, वह आज केवल पद और पैसे को आधार बनाकर चलने वाली ईर्ष्यालु बातों से कहीं अधिक उपयोगी थीं। ...

फिर भी यदि हमारी नैतिक शिक्षा में कोई कमी रही हो तो उच्च नैतिकता की प्रेरणा देने वाला एक अक्षय स्रोत हमारे पास था। यह थे हमारे महाकाव्य,

रामायण और महाभारत, जिसे मैंने बहुत पहले ही पढ़ना शुरू कर दिया था। इन महान पुस्तकों को पढ़कर कोई भी अच्छाई और बुराई के बीच स्थायी संघर्ष की स्थिति से अवगत हुए बिना नहीं रह सकता। उसे चेतावनी मिलती है कि चरित्र और सदगुण के लिए सदैव सावधान और प्रयत्नशील रहना पड़ता है। यद्यपि ये महाकाव्य सदैव सत्य की विजय दिखाते हैं परन्तु इस की आसान विजय की भावना (आलसी अंधविश्वास) को प्रोत्साहन नहीं देते। उलटे यह दिखाते हैं कि सत्य का पक्ष ही हर मोड़ पर अधिक संकट, बर्बादी, तबाही और पराजय के खतरे में पड़ता है। हमें पता चला कि बिना कठिन परिश्रम, साहस, और असीम विश्वास के सत्य की विजय कभी नहीं हुई। साथ ही हमें यह भी सीख मिली कि यह संघर्ष सदैव चलता रहता है। चूँकि मामूली प्रतिरोध, भौतिक और नैतिक दोनों रूपों में, के भी सामने आते ही हिन्दुओं में हाथ खड़े कर बचने, निकलने की प्रवृत्ति एक नियम जैसा है, उन महाकाव्यों की सीख हमारे लिए बहुत मूल्यवान रही।

– *ऑटोबायोग्राफी ऑफ एन अननोन इन्डियन* (1951)

III

हालाँकि एक क्षेत्र में पतन पूरे देश में खुल कर स्वीकार किया जाता है और व्यापक रूप से चर्चा की जाती है। वह शिक्षा का क्षेत्र है। देश के हर भाग में सभी वर्गों के लोग यह सोचने में सहमत हैं कि स्कूल और विश्वविद्यालय, दोनों में शिक्षा का स्तर खतरनाक तेजी से गिरता जा रहा है। महसूस किया जा रहा है कि इस के बारे में कुछ करना आवश्यक है, और यद्यपि उपचार बहुत साफ नहीं दिख रहा, कुछ उपाय सुझाए जा रहे हैं। किन्तु इस का कोई संकेत नहीं है कि कहीं भी इस पतन प्रक्रिया को रोका जा सका है, या कि यह सब से निचले बिन्दु पर भी पहुँच गया है। भारत में शिक्षा की स्थिति पर सामान्य भाव गहरी निराशा का है। हर विश्वविद्यालय शिक्षक देख रहा है कि उस के विद्यार्थियों का स्तर साल दर साल गिरता जा रहा है, और लोक सेवा आयोग भी इस पर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

ऐसा शैक्षिक पतन बौद्धिक जीवन के हरेक पक्ष में पतन हुए बिना नहीं हो सकता। निश्चय ही इस बौद्धिक पतन का कारण भी शैक्षिक पतन को बताया जा सकता है। किन्तु यह भी संभव है कि सामान्य बौद्धिक पतन के प्रभाव में ही शिक्षा का भी पतन हुआ है। हर हाल में दोनों ही संबद्ध परिघटनाएं हैं, और दोनों मिलाकर एक दुष्चक्र बनाती हैं।

बौद्धिक जीवन में पतन के कुछ अन्य लक्षण भी यहाँ बताए जा सकते हैं। एक सब से आश्चर्यजनक, और देश के भविष्य की दृष्टि से सब से चिन्ताजनक लक्षण है आज देश में पचास या साठ वर्ष की आयु से कम के किसी भी विशिष्ट बौद्धिक या विद्वान का पूर्णतया अभाव। यदि आज किसी भारतीय से पूछा जाए कि देश के एक दर्जन अग्रणी विद्वानों का नाम ले, तो वह फौरन राधाकृष्णन के नाम से आरंभ करेगा, और उस के बाद सोच में पड़ जाएगा, और फिर कुछ ऐसे नाम लेगा जो जाने-माने बिलकुल नहीं हैं, या अपने भी देश में धुँधले ही सुने गये हैं। जब कि देश में सामान्यत: 1900 से 1920 ई. के बीच ऐसे लोग जन्मे होने चाहिए थे जिन्हें आज बौद्धिक क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्ता हासिल होती।

दूसरे, भारतीय विश्वविद्यालयों में शोध के विस्तार और इतनी बड़ी संख्या में डॉक्टरेट थीसिसें जितनी इस से पहले देश के इतिहास में नहीं लिखी गईं, लिखे जा चुकने के बावजूद विगत तीन दशकों में ऐसी एक भी पुस्तक नहीं आई जो भारतीय इतिहास के बारे में कोई नई व्याख्या देती हो, अथवा भारत से संबंधित आर्थिक या राजनीतिक चिंतन में कोई मौलिक योगदान देती हो।

बल्कि, भारतीय विमर्श अधिकाधिक नकलची होता जा रहा है। आज भारत में आधुनिक बौद्धिक प्रयत्न भारी मात्रा में शुद्ध नकल है, क्यों कि यह पश्चिमी विचारों के रूप और परिणाम दोनों को यहाँ आरोपित करने की कोशिश कर रहा है। किन्तु इस नकल का चरित्र इस शताब्दी में समय के साथ बदलता गया है। पहले (उन्नीसवीं सदी तक) भारतीय चिंतन पश्चिमी विचारों को परख कर भारत के लिए सदैव रचनात्मक रूप से अपनाने का प्रयास करता था, ताकि यहाँ की नितांत भिन्न भौतिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति में उन का उपयोग किया जा सके। फलत: उन का चिंतन वैसे तोतेरटंत जैसा न था जैसा आज भारतीय चिंतन विमर्श आज है। तब वह सकारात्मक, चुना हुआ, और आत्मसात कर अपने लिए सहज बनाने का प्रयत्न था, जिन का चिंतन भारत की वास्तविकताओं के साथ निकट संबंध रखता था।

– *द इन्टेलेक्चुअल इन इन्डिया* (1967)

स्त्रोत-संदर्भ

स्वामी विवेकानन्द, *शिक्षा,* 1948 ई. में तात्कालिक मद्रास राज्य के शिक्षा मंत्री टी.एस. अविनाशीलिंगम द्वारा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा संबंधी विचारों का संकलन (नागपुर: 2011, रामकृष्ण मठ)

फ्रॉम कोलंबो टु अल्मोड़ा (16 जनवरी 1897 – 31 मार्च 1901 के बीच देश भर में विभिन्न स्थानों पर दिये गये व्याख्यानों का संग्रह)

युवकों के प्रति (2014: नागपुर, रामकृष्ण मठ), अनुवाद — सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', *फ्रॉम कोलंबो टु अल्मोड़ा* से कुछ व्याख्यानों का हिन्दी संकलन

रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'शिक्षा में हेर-फेर', 1892

'विद्यारंभ की शिक्षा', 1901, शांतिनिकेतन में ब्रह्मविद्यालय संस्थापना अवसर पर

'स्वदेशी समाज', व्याख्यान, 1904

'ततः किम्', व्याख्यान, 1906

'हिन्दू विश्वविद्यालय', 1911

'द सेकेन्ड बर्थ', 1916, अमेरिका में दिया व्याख्यान (*पर्सनैलिटी,* 1948: लंदन, मैकमिलन)

'माई स्कूल', 1916, अमेरिका में दिया व्याख्यान (*पर्सनैलिटी,* 1948: लंदन, मैकमिलन)

'मेडिटेशन', 1916, अमेरिका में दिया व्याख्यान (*पर्सनैलिटी,* 1948: लंदन, मैकमिलन)

'भारत में राष्ट्रवाद', 1916

'शिक्षा का मिलन', 1921
'समस्या', 1923
'समस्या का समाधान', 1923
'धर्म की शिक्षा', 1923, *शिक्षा के आठवें प्रबंध से*
'ए पोएट्स स्कूल', 1926
'विश्वविद्यालयों का रूप', 1932
'शिक्षा का विस्तार', 1933
'मैं ऐसी शिक्षण-पद्धति चाहता हूँ', संभवत: 1933
'कालांतर', 1935 (नये संविधान के अवसर पर लिखित]
'द फिलॉसोफिकल एप्रोच टु श्रीनिकेतन'
'द आर्ट ऑफ मूवमेंट इन एजुकेशन'
द गोल्टेन बोट (1932: लंदन, जॉर्ज अलेन एन्ड अनविन)
रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग 1, अनु. – विश्वनाथ नरवणे (नई 2009: दिल्ली, साहित्य अकादमी)

श्रीअरविन्दो, 'भारतीय मस्तिष्क', 1909
'ए प्रिफेस टु नेशनल एजुकेशन', 1920,
'ए सिस्टम ऑफ नेशनल एजुकेशन', 1921, पहली बार 1910 में ''कर्मयोगिन'' में प्रकाशित
द ह्यूमन साइकल, 1948
पश्चिम के खंडहरों से भारत का पुनर्जन्म, श्रीअरविन्द के लेखों, वार्तालापों और भाषणों से संकलित, (2007: मैसूर, मीरा अदिति सेंटर)

स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय'
'अकेली यात्रा की देहरी पर', 1973, व्याख्यान
'निरन्तरता और स्वतंत्रता', 1974, व्याख्यान
'शिक्षा जोड़ने वाली या तोड़ने वाली?', व्याख्यान
'उच्च शिक्षा: स्वरूप और समस्याएं', 1977, व्याख्यान
केन्द्र और परिधि (1984: नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस)

स.ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' के अभिभाषण, भाग 1, भाग 2 (2012: नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मंडल)

संवत्सर (2005: नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस)

सदानीरा, संपूर्ण कविताएं, भाग 2, (1986: नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस)

बंकिम चन्द्र, *आनन्द मठ*, अनु. — हंस कुमार तिवारी (1990: दिल्ली, सन्मार्ग प्रकाशन)

रॉबर्ट एम. हचिन्स (एडीटर इन चीफ), ''द ग्रेट कन्वर्सेशन: द सबस्टान्स ऑफ ए लिबरल एजुकेशन'', वोल्यूम 1, *द ग्रेट बुक्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड,* (1952: शिकागो, इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका इन्क.)

नीरद सी. चौधरी, *ऑटोबायोग्राफी ऑफ एन अननोन इन्डियन* (1951: लंदन:, मैकमिलन)

नीरद सी. चौधरी, *द इन्टेलेक्चुअल इन इन्डिया* (1967: नई दिल्ली, वीर पब्लिशिंग हाउस)

जॉन रस्किन, ''ऑफ किंग्स ट्रेजरीज'' (1964), *द लैम्प ऑफ मेमोरी* (तिथि अनंकित: लंदन, पेन्गिवन)

जॉन रस्किन, ''ऑफ क्वीन्स गार्डेन्स'' (1865), *सीसेम एन्ड लिलीज,* (रीप्रिन्ट, 2014: दिल्ली, सुरजीत पब्लिकेशन्स)

प्लेटो, *रिपब्लिक* (2010: न्यूयॉर्क, साइमन एन्ड शूस्टर)

हेनरी वड्सवर्थ लॉंगफेलो, *''ए साम ऑफ लाइफ''* (1838), *मास्टरपीसेज ऑफ द वर्ल्ड्स बेस्ट लिटेरेचर* (तिथि अनंकित: न्यूयॉर्क, क्लासिक पब्लिशिंग कम्पनी)

जॉर्ज ऑरवेल, ''द प्रिवेन्शन ऑफ लिटेरेचर'' (1945-46), *इनसाइड द ह्वेल एन्ड अदर एसेज* (1986: लंदन, पेन्गिवन)

जॉर्ज ऑरवेल, *सीइन्ग थिंग्स एज दे आर* (2016: लंदन, पेन्गिवन)